हिन्दी-साहित्य-मन्दिर ग्रन्थ-मालाका १८वाँ ग्रन्थ

ईश्वर और आत्मा

लेखक—

श्री अरविन्द घोष

अनुवादक—

देवनारायण द्विवेदी

प्रकाशक—

जीतमल लूणिया

संचालक—हिन्दी-साहित्य-मन्दिर

बनारस सिटी।

प्रथम बार] सितम्बर १९२३ ई०। [मूल्य ।।।)
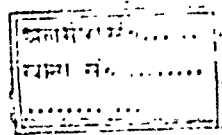
प्रकाशक—

जीतमल लूणिया

हिन्दी-साहित्य-मन्दिर

बनारस सिटी ।

मुद्रक—

गणपति कृष्ण गुर्जर,

श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड़,

काशी ८१७-२३ ।

परिचय
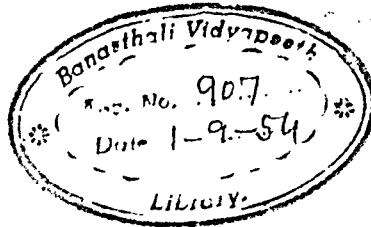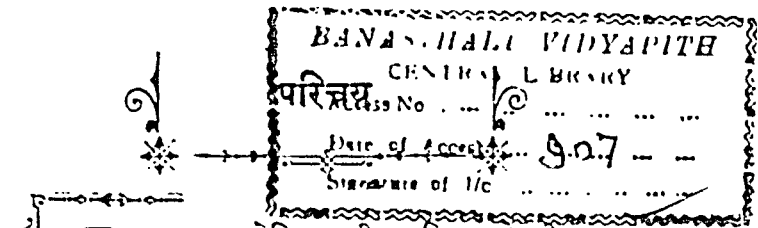
प्रस्तुत पुस्तक योगिराज श्री अरविन्द घोषकी उत्कृष्ट रचनाओंमें बड़ी ही अनूठी और नवीन रचना है। इसके बहुतसे अंशोंका फ्रेंच आदि भाषाओंमें भी अनुवाद हो चुका है। अंगरेजी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओंके मर्मज्ञोंने इस पुस्तककी मुक्त कण्ठसे सराहनाएँ की हैं। मातृभाषा हिन्दीकी झोली अभीतक ऐसे अद्भुत प्रभा-पूर्ण रत्नसे शून्य थी। हर्ष है कि आज इस कमीकी पूर्त्ति हो रही है।

इस पुस्तकमें दो खंड हैं; एक 'धर्म' और दूसरा 'जातीयता'। उपनिषदोंमें 'धर्म'का स्वरूप इस प्रकार दिखाया गया है,—'यतोभ्युदय निश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् 'जिससे लौकिक और पारलौकिक दोनोंकी सिद्धि हो, या उन्नति हो, वह धर्म है'। पर इससे हृदयमें यह प्रश्न उद्भूत होता है कि लौकिक और पारलौकिक उन्नति होती किससे है? इसपर उपनिषदोंकी राय है कि, लौकिक और पारलौकिक उन्नति किससे होती है, और किससे नहीं होती, सो बात शृंखलित नहीं की जा सकती; क्योंकि कार्य्यका समयानुसार स्वरूप

बदलता रहता है। किसी समय शुभ कार्य्य अधर्ममय हो जाता है और किसी समय अशुभ कार्य भी धर्ममय हो जाता है, अर्थात् समयानुसार शुभ अशुभका और अशुभ शुभका रूप धारण कर लेता है। धर्माधर्मका निर्णय समयानुसार पवित्र बुद्धि ही कर सकती है। नतो धर्म ही सीमाबद्ध है और न उसके मार्ग ही। पर उपनिषदोंके इस उत्तरसे मनका संदेह और भी विराट् रूप धारण कर लेता है। अब प्रश्न उठता है कर्त्तव्या-कर्तव्यके निर्णयका। कौनसी बुद्धि इसका निर्णय कर सकती है और कौनसी बुद्धि नहीं कर सकती? और फिर यही कैसे निश्चय किया जा सकता है कि अमुक बुद्धिका निर्णय ठीक है और अमुकका नहीं? क्योंकि उपनिषदोंमें ही कहा गया है कि मनुष्य निर्भ्रान्त नहीं है; कभी कभी पुण्य-बुद्धि भी पथभ्रष्ट हो जाया करती है।

यद्यपि उक्त सन्देहोंके भी उपनिषदोंमें विस्तृत रूपसे संतोषजनक उत्तर मौजूद हैं, पर उन्हें ढूँढ़ निकालना विलक्षण बुद्धिवाले असाधारण पुरुषोंका ही काम है। उपनिषदोंके इन गूढ़ रहस्योंके समझनेमें बड़े बड़े मेधावी पंडित और तीक्ष्ण बुद्धिवाले लोकपूज्य व्यक्ति भी असमर्थ हो जाते हैं, साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या। योगिराजने उन्हीं गूढ़ रहस्योंको वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों और पुराणादिकोंके मूल तत्त्वोंके आधारपर इस 'धर्म' खण्डमें सुस्पष्ट और सरल करनेका प्रयास किया है। इस पुस्तकका मनन पूर्वक अध्ययन

करनेसे धर्मका निर्मल और सच्चा चित्र हृदयमें अंकित हो जाता है। साथही शान्ति संचरित होती और बुद्धिमें कर्त्तव्या-कर्तव्य या धर्माधर्म कर्मोंकी निर्णायिका शक्तिका अविर्भाव होता है।

गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है कि 'गहना कर्मणो गतिः'। कर्म, अकर्म और विकर्मका निर्णय करना बहुत ही कठिन काम है। धर्म प्रकरणमें इनपर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

प्रायः ही देखा जाता है कि बहुधा लोग 'जाति' और 'वर्ण' का एक ही अर्थ करते हैं। पर वास्तवमें दोनों शब्दोंके अर्थ एक नहीं। 'जाति' शब्दका अर्थ समष्टि बोधक है और 'वर्ण' शब्दका अर्थ व्यष्टि बोधक; 'जाति' का अर्थ विशेष व्यापक है और 'वर्ण' का अर्थ जातिकी अपेक्षा बहुत ही संकीर्ण; एक जातिके अन्तर्गत बहुतसे वर्ण हो सकते हैं। योगि-राजने इस पुस्तकके दूसरे खंड-(जातीयता) में 'जाति' और 'वर्ण' दोनों शब्दोंका पार्थक्य और उनका पारस्परिक अंगांगि सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है। देशमें स्वतंत्रताकी आग कैसी भभक उठी, भारतीय स्वतंत्रताका आन्दोलन धार्मिक कैसे है, उत्साही नवयुवकोंके हृदयोंमें किन किन बातोंका संचार होना आव-श्यक है, जाति और धर्मका राजनीतिसे क्या सम्बन्ध है, तथा ये दोनों किस तरह नष्ट हो जाते हैं, इनके नष्ट होनेसे राष्ट्रपर कैसा असर पहुँचता है, पाश्चात्य शिक्षासे भारतकी कौन

कौनसी विशेषताएं लोप हुई हैं, प्राच्य और पाश्चात्य निवासियोंमें क्या अन्तर है, आदि बातें भी संक्षिप्त रीतिसे स्पष्ट कर दी गयी हैं।

चित्रकलाका जातिसे बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी जातिके गुणदोषोंको उस जातिकी चित्रकला स्पष्ट बतला देती है। पाश्चात्य विद्वानोंने भारतीय चित्रकलापर कुठाराघात किया है। कितने ही अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त भारतवासीभी उनके चक्करमें आ गये हैं। इस पुस्तकमें उक्त विषयपरभी अच्छा प्रकाश डाल दिया गया है। इसमें ऐसी सूत्रबद्ध भाषामें और ऐसे ऐसे गहन विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है कि उन बारीकियोंपर दृष्टि पड़ते ही चित्त विह्वल हो उठता है।

अस्तु; विषय बड़ा ही गहन है; यथा शक्ति लेखकके भावोंकी रक्षा करते हुए भाषा सरल लिखनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है। जहाँ तहाँ अर्थ सरल करनेके लिये टिप्पणियाँ भी दे दी गयी हैं। तिसपर भी कहीं कहीं शब्द काठिन्य अवश्य ही रह गया है। इस प्रकारके अध्यात्मके पारिभाषिक और औदाहरणिक शब्दोंकी कठिनताके लिये सहृदय साहित्यानुरागी महानुभावोंके समक्ष लाचारी प्रकट करनेके सिवा और किया ही क्या जा सकता है!

अन्तमें हमें एक बात और कहनी है; वह यह कि इस पुस्तकके पृष्ठ २२में हमने कर्म, अकर्म और विकर्मकी टिप्पणी

दी थी। भूलसे विकर्मकी टिप्पणी उक्तस्थानमें छूट गयी और नहीं छप सकी है। वह विकर्मकी छूटी हुई टिप्पणी इस प्रकार है:—

"विकर्म—(विपरीत कर्म) मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उनमेंसे अकर्म (सात्त्विक कर्म) घटा देनेसे अवशेष जो कर्म रह जाता है, उसके दो भाग राजस और तामस किये जा सकते हैं। इनमेंसे तामस कर्म, मोह और अज्ञानसे हुआ करते हैं। इसलिये उन्हें विकर्म कहते हैं। और फिर यदि कोई कर्म मोहसे छोड़ दिया जाय तो वह भी विकर्म ही है नकि अकर्म"।

आशा है कि विज्ञ पाठकगण ऊपरकी टिप्पणीको नियमित स्थानपर पढ़ेंगे और इस पुस्तकका अवलोकनकर हमारा परिश्रम सफल करेंगे।

ता० १८—८—२३
साहित्याश्रम
पो० कछवा (मिर्जापुर)

विनीत—
देवनारायण द्विवेदी

पहिले इसे अन्त तक ज़रूर पढ़ लीजिये।

राष्ट्रीय साहित्य ही देश में नया जीवन पैदा करता है। खेद है हिन्दी में इस समय इसकी बड़ी कमी है। इसी कमी की पूर्ति के लिये हमने **हिन्दी साहित्य मन्दिर ग्रन्थमाला** नाम की यह माला निकालना शुरू किया है। अब देशवासियों से यह प्रार्थना है कि वे इस कार्य्य में हमारा उत्साह बढ़ावें और 'एक एक बूंद से घड़ा भर जाता है' उसी प्रकार कम से कम इस माला के स्थाई ग्राहक होकर हमारी सहायता करें। स्थाई ग्राहक होने के लिये केवल एक दफ़ा आपको आठ आने देने पड़ेंगे।

स्थाई ग्राहक होने से अपूर्व लाभ।

(१) ग्रन्थमाला से प्रकाशित सब ग्रन्थ पौनी कीमत में मिलेंगे। (२) प्रकाशित या प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में से आप जो चाहें लें, न पसन्द हो न लें, कोई बन्धन नहीं। (३) हमारे यहाँ दूसरे स्थानों की हिन्दी की प्रायः सभी उत्तम पुस्तकें मिलती हैं। इनमें से आप जो पुस्तकें हमारे यहाँ से मँगावेंगे, प्रायः उन सब पर एक आना रुपया कमीशन दिया जावेगा। (४) हमारे यहाँ जो पुस्तकें नई आवेंगी, उनकी सूचना बिना पोस्टेज लिये ही घर बैठे आपको देते रहेंगे।

क्या अब भी आप स्थाई ग्राहक न होंगे।

ग्रन्थमाला में अबतक यह पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं:—

(१) **दिव्य जीवन**—यह ग्रन्थ संसार भर में नाम पाये हुये डाक्टर स्विट मार्सडन की जगद्विख्यात पुस्तक "The Miracles of Right Thoughts" का हिन्दी अनुवाद है। पुस्तक क्या है, एक महात्मा का दिव्य संदेशा है जिसको पढ़नेसे हृदय में एक आत्म शक्ति का अपूर्व संचार होता है और आत्मा में स्थित अनन्त शक्तियों का ज्ञान होता है। पुस्तक उत्साह वर्द्धक विचारों से भरी हुई है। यह पुस्तक लोगों को इतनी पसंद हुई कि पहला संस्करण बहुत शीघ्र बिक गया। अब दूसरी बार छपी है। मू० ।।।)

(२) प्रेसीडेन्ट विलसन और संसार की स्वाधीनता-मू० ॥-)

(३) सर जगदीशचंद्र बोस और उनके आविष्कार-मू० ।=)

(४) शिवाजी की योग्यता—(लेखक, गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) यह पुस्तक कई ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन कर बड़े परिश्रम से लिखी गई है। लीडर (प्रयाग) लिखता है "विदेशी लेखकों ने जो इस वीर शिरोमणि को बदनाम किया है उसका इस पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह से खंडन किया गया है। लेखक ने शिवाजी की अद्भुत वीरता अपूर्व सेना संचालन और उत्तम राज्य-व्यवस्था के वर्णन करने में अच्छी तरह सफलता प्राप्त की है। इस विषय का ज्ञान जितना ही हमारे में फैलेगा उतना ही हमारे लिये हितकर है।" यह भी दूसरी बार छपी है। मू० ।॥)

(५) चित्राङ्गदा—(सर रवीन्द्रनाथ ठाकुर) इस पुस्तक में महा-प्रतापी अर्जुन और चित्राङ्गदा का पवित्र और स्वाभाविक प्रेम का बड़ी ही सुन्दर और सुललित भाषा में वर्णन दिया गया है। अङ्गरेजी में इसी पुस्तक की कीमत ढाई रुपया है; पर हिन्दी प्रेमियों के लिये मूल्य केवल ॥) यह भी दूसरी बार छपी है। समाचार पत्रों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

(६) नागपुर की कांग्रेस—कांग्रेस का सच हाल मूल्य ।॥)

(७) स्वतन्त्रता की झनकार—भारत के प्रसिद्ध कवियों की राष्ट्रीय, अपूर्व जोशीली कविताओं का अपूर्व संग्रह—यह पुस्तक लोगों को इतनी पसंद हुई कि प्रायः छः ही मास में ३२०० कापियाँ समाप्त हो गईं। अब दूसरी बार फिर छपी हैं। सचित्र मूल्य ॥)

(८) नवयुवको! स्वाधीन बनो!—स्वाधीनता के भावों से यह पुस्तक भरी हुई है—इसे फ़ौरन कब्ज़े में कीजिये—सचित्र मूल्य ॥)

(९) असहयोगदर्शन—(भूमिका लेखक पं० मोतीलाल नेहरू असहयोग का सच्चा रहस्य बतानेवाली हिन्दी में कोई दूसरी पुस्तक अभी तक नहीं निकली। छः महीने में ही इसकी दो हज़ार कापियाँ बिक गईं। अब दूसरी बार छपी है। मूल्य १)

(१०) तिलक-दर्शन—(११ सुन्दर चित्रों से सुसज्जित) भूमिका लेखक प० मदनमोहन मालवीय—लो० तिलक की जीवनी और उनके व्याख्यानों का अपूर्व संग्रह—हिन्दी में इतना बड़ा ग्रन्थ अभी तक नहीं निकला। अब इसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। यह भी दूसरी बार छपा है। मूल्य ३)

(११) हिन्दुस्थान का राष्ट्रीय झंडा—यह असहयोगदर्शन का दूसरा भाग है। दोनों पुस्तकों को अवश्य पढ़िये। मूल्य १)

(१२) वोल्शेविज़्म—भूमिका लेखक—बाबू भगवानदास गुप्त—रूस के वोल्शेविज़्म सम्बन्धि सब बातों का सच्चा इतिहास-मूल्य १।-)

(१३) भारत-दर्शन—भूमिका लेखक—लाला लाजपतराय अँग्रेज़ों ने किस छल कपट से भारत को जीता और उसकी कैसी हीन दशा बना दी आदि अपने देश की सच्ची हालत जानना चाहते हैं तो इसे अवश्य मँगाइये। मूल्य २॥)

(१४) देशबन्धु सी. आर. दास की सचित्र जीवनी-मूल्य॥)

(१५) अकालियों का आदर्श सत्याग्रह और उनकी विजय-(ले० बाबू सम्पूर्णानन्द बी. एस. सी.) अकालियों का नाम आज संसार प्रसिद्ध हो गया है। इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये—सचित्र मूल्य ॥)

(१६) खादी का इतिहास—यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य में अपूर्व है। प्रत्येक भारतवासी को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये-मूल्य ॥-)

(१७) विवाह-कुसुम—यह सामाजिक उपन्यास है। स्त्रियाँ, बच्चे, पुरुष सबके लिये शिक्षाप्रद है। रोचक इतना है कि बिना समाप्त किये चैन नहीं पड़ती। कई सुन्दर चित्र हैं। मूल्य १॥)

(१८) धर्म्म और जातीयता—(ले० अरविन्द घोष) मूल्य ।॥)

(१९) तरुण-भारत—(ले० लाला लाजपतराय) विषय नाम से ही प्रकट है। बढ़िया कागज़ पर छपी है। मूल्य १)

(२०) लक्ष्मी—पौराणिक उपाख्यान-लक्ष्मी जिसको राजा और रंक सब ही पाने की लालसा करते हैं उन्हीं की सचित्र जीवनी। मूल्य १)

विषय सूची

धर्म्म

जातीयता

पुस्तक-प्रेमियों के हित की बात
हिन्दी पुस्तकों
की जब कभी आपको आवश्यकता हो
तो
हमारे यहाँ पर पत्र भेज दीजिये
अब आप इधर-उधर बीसों जगह से पुस्तकें मँगाकर व्यर्थ समय और रुपया मत बिगाड़िये।
क्योंकि
हिन्दुस्थान में हिन्दी पुस्तकों की हमारी
बड़ी दुकान है
हमारे यहाँ हिन्दी की सब प्रकार की सब विषयों की पुस्तकें मिलती हैं।
बड़ा सूचीपत्र मुफ्त
मँगालें। व्यापारियों और लाइब्रेरियों को काफ़ी कमीशन दिया जाता है। पत्र देकर पूछ लें।
पताः—
हिन्दी साहित्य मन्दिर,
चौक, बनारस सिटी।
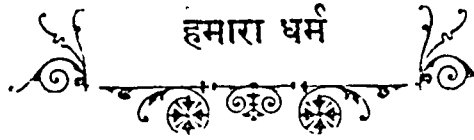
हमारा धर्म

हमारा धर्म सनातन धर्म है। यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्मरत है। अन्तरात्मा, मानसिक जगत और स्थूल जगत—इन तीनों स्थानोंमें भगवान प्रकृतिसृष्ट यानी प्रकृतिसे उत्पन्न महाशक्ति द्वारा चलने वाले विश्वरूपमें आत्म-प्रकाश कर रहे हैं। इन तीनों स्थानोंमें उनके साथ युक्त होनेकी चेष्टा ही सनातन धर्मका त्रिविधत्व है। इसीसे हमारा धर्म त्रिविध है। ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों स्वतंत्र मिलित उपायों द्वारा वह युक्तावस्था मनुष्यको प्राप्त होती है। इन्हीं तीनों उपायों द्वारा ही आत्म-शुद्धि करके भगवानके साथ युक्त यानी भगवानमें मिल जाने की इच्छा सनातन धर्मकी त्रिमार्गगामी गति है, इसलिये हमारा धर्म त्रिमार्गगामी है। मनुष्य की

सारी वृत्तियोंमें सत्य, प्रेम और शक्ति—ये ही तीन प्रधान वृत्तियां ऊर्द्ध्व-गामिनी और ब्रह्म-प्राप्ति-बल दायिनी हैं। इन्हीं तीन वृत्तियोंके विकाससे मानव-जातिकी धीरे धीरे उन्नति होती आ रही है। सत्य, प्रेम और शक्तिद्वारा त्रिमार्ग यानी ज्ञान, भक्ति और कर्ममें अग्रसर होना ही सनातन धर्मका त्रिकर्म है, अतः हमारा धर्म त्रिकर्मरत है।

सनातन धर्ममें बहुतसे गौण धर्म स्थापित हुए हैं। सनातनधर्मके सहारे परिवर्त्तनशील बड़े छोटे अनेक तरहके धर्म अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त हैं। सब तरहके धर्म कर्म स्वभाव सृष्ट यानी स्वभावसे उत्पन्न होते हैं। सनातन धर्म जगतके सनातन स्वभावके आश्रित है और जितने अनेक तरहके धर्म हैं वे सब भिन्न भिन्न आधार गत स्वभावके फल हैं।

व्यक्तिगत धर्म, जाति का धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादि अनेक धर्म हैं। अनित्य कहकर वे सब उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं हैं, क्योंकि इन अनित्य परिवर्त्तनशील धर्मों द्वारा ही सनातन धर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्तिगत धर्म, जातिधर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्म छोड़ देनेसे सना· धर्मकी दृढ़ता कदापि नहीं हो सकती। इनके छोड़नेसे अधर्म ही बढ़ता है; और जातिमें जिसे 'संकर' अर्थात् सनातन प्रणाली भंग और क्रमशः उन्नतिकी विपरीत गति–कहा गया है, वे अधिक होकर पृथ्वीको पाप और अत्याचारसे पीड़ित करते हैं। जब उसी पाप और अत्याचारकी मात्रा हद्दसे

ज़्यादा हो जाती है और मनुष्यकी उन्नतिकी विरोधिनी धर्म-नाशिनी सारी राक्षसी शक्तियां वर्द्धित और बलयुक्त होकर स्वार्थ, क्रूरता एवं अहंकारसे पृथ्वी-मंडलको आच्छादित कर लेती हैं अनीश्वर जगतमें ईश्वरका सृजन आरम्भ करती हैं, तब भारार्त्त अर्थात् पाप और अत्याचारके बोझसे व्याकुल पृथ्वीके दुःखको दूर करनेके लिये साक्षात् भगवान अवतार लेकर अथवा अपनी विभूति मानव शरीरमें प्रकाश कर हमारा धर्म-पथ निष्कंटक करते हैं ।

व्यक्तिगत धर्म, जातिका धर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्म-का मानना सनातन धर्मका उचित रूपसे पालन करनेके लिये सदैव रक्षणीय है अर्थात् व्यक्तिगत धर्म, जातिका धर्म, वर्णाश्रित धर्म और युग धर्मकी रक्षा करनेसे ही सनातन धर्मकी रक्षा होती है। किन्तु इन अनेक तरहके धर्मोंमें क्षुद्र और महान दो रूप हैं। क्षुद्र धर्मको महान धर्ममें मिलाकर और संशोधन करके कर्मारम्भ करना श्रेयस्कर है। व्यक्तिगत धर्मको जाति-धर्मके अंकाश्रित न करनेसे जाति नष्ट हो जाती है और जाति-धर्मका लोप हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मके प्रसार-का क्षेत्र और सुयोग भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जाति-धर्मका नाश करनेवाले धर्मसंकर अपने प्रभावसे जाति और अपने दल (संकरकारी गण) दोनोंको दारुण दुःख-कुण्डमें निमग्न कर देते हैं। जब तक जातिकी रक्षा नहीं होती, तब तक व्यक्तिकी उन्नति नहीं होती। जातिकी रक्षा करनेसे

व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति बिना विघ्न-बाधाके हो जाती है। युगधर्मानुसार न चलनेसे वर्णाश्रित धर्म चूर्ण विचूर्ण होकर समाजको भी नष्ट कर देता है। सारांश यह है कि क्षुद्र सर्वदा महत्‌का अंश अथवा सहायक स्वरूप है, इस सम्बन्धकी विपरीतावस्थामें धर्म-संकरोंकी उत्पत्तिसे महान अनिष्ट ही होता है। क्षुद्र धर्म और महान धर्ममें विरोध होनेसे क्षुद्र धर्मका परित्याग कर महान धर्मका आश्रय लेना ही मंगलप्रद है।

हमारा उद्देश्य है सनातन धर्मका प्रचार और उसके आश्रित जातिधर्म और युग धर्मका अनुष्ठान। हम भारत वासी आर्योंके वंशज हैं। हम लोग आर्यशिक्षा और आर्यनीतिके पूर्ण अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुल धर्म और जातिधर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म ही आर्यशिक्षाका मूल, तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति और विनय अर्थात् नम्रता ही आर्यचरित्रका लक्षण है। मानव जातिको ज्ञानी बनाना, संसारको उन्नत उदार चरित्रकी निष्कलंक शिक्षा देना, निर्बलोंकी रक्षा करना तथा प्रबल अत्याचारियोंको दंड देना, आर्योंके जीवनका उद्देश्य है और इसी उद्देश्यका साधन करनेमें आर्योंके धर्मकी चरितार्थता भी है। हम लोग धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्म संकर और भ्रम पूर्ण तामसी मोहमें पड़कर आर्योंकी शिक्षा और नीति दोनों खो बैठे हैं। आर्योंके वंशज होते हुए भी हम लोग शूद्रत्व और शूद्र धर्में

रूपी दासत्त्व स्वीकार कर संसारमें हेय प्रबल-पद-दलित और दुःख-परम्परा-प्रपीड़ित हो रहे हैं। अतएव यदि इससे छुटकारा पाना है, यदि यमपुरीकी भीषण यातनासे मुक्त होनेकी ज़रा भी अभिलाषा है, तो सबसे पहले जातिकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। किन्तु जातिकी रक्षा तभी हो सकती है जब आर्य-चरित्रका पुनर्गठन होगा। सारी जाति-को, खासकर नवयुवकोंको—उसी तरहकी उपयुक्त शिक्षा, उच्चादर्श आर्य भावोद्दीपक कर्म-प्रणालीका प्राप्त करना आव-श्यक है जिससे जननी जन्म-भूमिके भविष्यमें पैदा होनेवाले बच्चे ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मनुष्य प्रेमी, मातृ-भावके भावुक, साहसी शक्ति-सम्पन्न और विनम्र हों। बिना ऐसा किये सनातन धर्म-का प्रचार करना ऊसरमें बीज बोनेके समान है।

जाति धर्मकी स्थापना करनेसे युगधर्म सेवा सहज-साध्य होगी। यह युग शक्ति और प्रेम का युग है। जिस समय कलियुगका आरम्भ होता है उस समय ज्ञान और कर्म भक्ति-के अधीन और उसके सहायक होकर अपनी अपनी प्रवृत्ति चरितार्थ करते तथा सत्य और शक्तिको प्रेमके आश्रित कर मानव-समाजमें प्रेम विकाश करनेकी चेष्टा करते हैं। बौद्ध धर्मकी मैत्री और दया, खीष्ट धर्मकी प्रेम शिक्षा, मुसलमान धर्मका साम्य और भ्रातृ-भाव, पौराणिक धर्मकी भक्ति और प्रेम-भाव, ये सब उस चेष्टाके फल स्वरूप हैं। कलियुगमें मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम साम्य और भ्रातृ-भावकी, सहायता

लेकर ही सनातन धर्म मानव समाजका कल्याण करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मसे गठित आर्य धर्ममें ये सब शक्तियां प्रविष्ट और विकसित होकर विस्तार और अपनी प्रवृत्तिमें सफल होनेके लिये यथार्थ मार्ग ढूँढ़ रही हैं। कठिन तपस्या उच्चाकांक्षा और श्रेष्ठ कर्म शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं। यह आर्य-जाति जिस समय तपस्वी, उच्चाकांक्षी और महत् कर्म-प्रयासी हो जायगी, उस समय समझ लेना होगा कि संसारकी उन्नतिके दिनका आरम्भ हो गया, अब धर्म विरोधिनी राक्षसी शक्तिका नाश और देव शक्तिका पुनरुत्थान अनिवार्य है। इसलिये इस प्रकार शिक्षा भी आधुनिक समयके लिये विशेष प्रयोजनीय है।

युग-धर्म और जाति-धर्म ठीक रहनेसे जगतमय सनातन धर्म बिना किसी प्रकारकी रुकावटके प्रचारित और अनुष्ठित होगा। विधाताने पहलेसे जो कुछ निर्दिष्ट किया है तथा जिस सम्बन्धमें भविष्योक्तियां शास्त्रोंमें लिखी हैं। वे भी कार्य-रूपमें परिणत होंगी। सारा संसार आर्य देशोत्पन्न ब्रह्म-ज्ञानियोंके समीप ज्ञान धर्म शिक्षाप्रार्थी होकर भारत भूमिको तीर्थ मानेगा और अपना मस्तक झुकाकर उसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। पर वह दिन तभी आवेगा, जब भारतवासी जागेंगे और उनमें आर्य-भावका नवोत्थान दृष्टिगत होगा।

गीताका धर्म।

गीताको ध्यानपूर्वक पढ़कर उसे हृदयंगम करने वालोंके मनमें यह प्रश्न उठ सकता है कि, गीतामें भगवान श्रीकृष्णने जो वारवार योग शब्दका व्यवहार और युक्तावस्थाका वर्णन किया है और उस योग शब्दका वहुतसे लोग जो अर्थ करते हैं वह अर्थ गीता-में व्यवहार किये गये 'योग' * शब्द पर तो घटित नहीं

---

* वहुत से लोग गीतामें व्यवहृत 'योग' शब्दका रूढ़ार्थ "प्राणायाम आदिक साधनोंसे चित्तकी वृत्तियों या इंद्रियोंका निरोध करना" अथवा "पातंजल सूत्रोक्त समाधि या ध्यान योग" करते हैं। उपनिषदोंमें भी इसी अर्थसे इस शब्दका प्रयोग हुआ है। किन्तु गीताको ध्यान पूर्वक पढ़नेवाले जानते हैं कि यह अर्थ श्रीमद्भगवद्गीतामें विवक्षित नहीं है। क्योंकि भगवानका यह कदापि अभिप्राय नहीं था कि अर्जुन युद्ध छोड़ कर प्राणायाम आदि साधनोंसे चित्तकी वृत्तियोंको रोकनेमें लग जाय। लोकमान्य तिलक महाराजने इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है,—योग शब्द 'युज' धातुसे बना है। इसका अर्थ है, जोड़, मेल, एकत्र-अवस्थिति आदि। ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके उपाय, युक्ति या कर्मको भी 'योग' कहते हैं। यह सब अर्थ अमरकोषमें इस तरहसे दिये हुए हैं "योगः संनहनोपाय ध्यानसंगतियुक्तिषु"। योग शब्दका अर्थ गीतामें ही इस प्रकार पाया जाता है, "योगःकर्मसु कौशलम्" (गी० २–५०) अर्थात् कर्म करने-

होता ? भगवान श्रीकृष्णने गीतामें जगह जगह संन्यासकी * सराहना की है और अनिर्देश्य परब्रह्मकी उपासनामें परम गति भी निर्दिष्ट की है; किन्तु अत्यन्त संक्षेपमें गीताके अधिक भागमें उन्होंने सांगोपाङ्ग त्यागका महत्त्व, वासुदेवके ऊपर श्रद्धा और आत्मसमर्पणमें ही परमावस्था या मोक्षकी प्राप्तिके अनेकानेक उपायों द्वारा गांडीव-धनुषधारी अर्जुनको समझाया है। गीता के छठे अध्यायमें राज योगका किंचित् वर्णन है, किन्तु इससे गीताको राजयोगात्मक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। समता, अनासक्ति, कर्मफल-त्याग भगवानमें आत्म-समर्पण, निष्काम कर्म, गुणातीत्य और स्वधर्म सेवा ही गीताका मूल तत्त्व या सारांश है। भगवानने

की किसी विशेष प्रकारकी कुशलता या चतुराई अथवा शैलीको 'योग' कहते हैं। शांकर भाष्यमें भी "कर्मसु कौशलम्" का यही अर्थ लिखा है "कर्ममें स्वभाव सिद्ध रहनेवाले बंधनको तोड़नेकी युक्ति"। एक ही कर्मको करनेके लिये अनेक 'योग' और 'उपाय' होते हैं। परन्तु उनमें-से जो उपाय या साधन उत्तम हो उसीको 'योग' कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पाप पुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी जो समत्व बुद्धिरूप विशेष युक्ति है वही 'कौशल' है और इसी कुशलतासे कर्म करनेको गीतामें 'योग' कहा है।

* गीता में व्यवहृत 'संन्यास' शब्दका अर्थ घर द्वार छोड़कर गेरुवा वस्त्र पहननेका नहीं है, वरन् सारे कार्योंको करते हुए आन्तरिक त्याग है। 'संन्यास और त्याग' शीर्षक प्रकरणमें इसकी व्याख्या है।

१—सबको समान समझना। २—किसीमें रत न होना। ३—किसी भी कर्मको फलाशा त्याग वृत्ति से करना। ४—अपनेको शरीरसे पृथक समझना।

परमज्ञान और गूढ़तम रहस्यके नामसे गीतामें इसी शिक्षाकी व्याख्या भी की है। हमारा विश्वास तो यह है कि भविष्य-में किसी न किसी दिन गीता ही संसारके भावी धर्मका सर्वजन-सम्मत शास्त्र होगी। पर अभी सब लोग गीताका प्रकृत अर्थ नहीं जानते। बड़े बड़े पंडित, श्रेष्ठ मेधावी और तीक्ष्ण बुद्धिवाले सुलेखक भी गीताके गूढ़ार्थसे अनभिज्ञ हैं। एक ओर तो गीताके मोक्ष-परायण व्याख्यान अद्वैतवाद और संन्यास धर्मकी श्रेष्ठता बतला रहे हैं और दूसरी ओर पाश्चात्य-दर्शनशास्त्रमें कुशल बंकिमचन्द्र गीतामें केवल मात्र वीर भावसे कर्तव्य पालनका उपदेश प्राप्तकर-यही अर्थ नव-युवकोंको सिखानेकी पूर्ण चेष्टा कर रहे हैं।

इसमें संदेह नहीं कि संन्यास धर्म उत्कृष्ट धर्म है, किन्तु इतना अवश्य है कि इस संन्यास धर्मका आचरण बहुत ही कम लोग करते हैं। सबके मानने योग्य उत्कृष्ट धर्ममें इस प्रकारके आदर्श और तात्विक शिक्षाका रहना आवश्यक है, जिससे सब लोग अपने जीवन और कर्मक्षेत्रमें उस धर्मका आचरण सरलता-पूर्वक कर सकें। क्योंकि पूर्ण-रीतिसे उसी आदर्शका आचरण करनेपर वे उस परम गीताको प्राप्त कर सकेंगे, जिसके अधिकारी इनेगिने लोग ही होते हैं।

वीर भावसे कर्तव्य पालन करना भी अवश्य ही उत्कृष्ट धर्म है; पर कर्तव्य क्या है, यही जटिल समस्या लेकर धर्म और नीतिकी सारी विडम्बना है। भगवानने गीतामें अर्जुन-

से स्पष्ट कहा है कि 'गहना कर्मणो गतिः'। क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या कर्म है, क्या अकर्म है और क्या विकर्म है, इन सब बातोंका निर्णय करनेमें ज्ञानियोंका मस्तिष्क भी चक्कर खाने लगता है; पर हम (श्रीकृष्ण) तुम्हें (अर्जुनको) ऐसी शिक्षा देंगे कि जिससे तुम्हें यथार्थ मार्गके निश्चित करनेमें जरा सा कष्ट भी न उठाना पड़ेगा। कर्म-जीवन का लक्ष्य और सदा पालन करने योग्य नियम ये दोनों विस्तृत रूपसे एक ही बातमें हम तुमसे कहेंगे। यह ज्ञान क्या है, यह लाख बातकी एक बात कहां पायी जायगी? हमारा विश्वास है कि गीताके अंतिम अध्यायमें जहाँपर भगवानने अपना गुह्याति गुह्य श्रेष्ठ वक्तव्य अर्जुनसे कहा है,

---

१—'कर्म'—कर्मका अर्थ केवल क्रिया ही नहीं है, वरन् क्रियासे होनेवाले शुभ अशुभ परिणामोंका विचार करके कर्मका कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चय होता है।

२—'अकर्म'—अकर्मका शाब्दिक अर्थ है 'कर्म न करना'। करने पर भी जो कर्म बांधता नहीं अर्थात् जिस कर्ममें बंधकत्व न हो, वही कर्म 'अकर्म' है। अकर्मका प्रचलित अर्थ कर्म शून्यता है। मीमांसकों और सन्यास मार्गियोंने इस शब्दका अर्थ करनेमें बड़ी खींचातानी की है। अकर्मका अर्थ कर्मशून्यता होना सम्भव नहीं। क्योंकि सोना, जागना उठना, बैठना आदि भी कर्म ही हैं। यदि सृष्टिके माने ही कर्म हैं, तो मनुष्य सृष्टिमें रहता हुआ कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता। अतः यही निश्चय होता है कि अकर्मका अर्थ सब कर्म छोड़ देना कदापि नहीं हो सकता क्योंकि कर्म छूट नहीं सकते। गीताके अध्याय १८ में इसका अच्छा विवेचन किया गया है।

वहाँ पर ही खोजनेसे यह दुर्लभ और अमूल्य वस्तु पायी जा सकती है। वह सबसे गुह्यतम श्रेष्ठ बात क्या है? यह कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः*॥

इन दोनों श्लोकोंमें एकही बात पाई जाती है; वह बात है—आत्मसमर्पण। जो लोग जितने ही अधिक परिमाणमें श्रीकृष्णके समीप आत्म-समर्पण कर सकते हैं, वे लोग उतने ही अधिक परिमाणमें ईश्वर-प्रदत्त शक्ति पाकर परम मंगलमयके प्रसादसे पाप मुक्त हो देवभावको प्राप्त करते हैं। उसी आत्मसमर्पणका वर्णन पहले श्लोकार्द्धमें किया हुआ है। आत्म-समर्पण तन्मना, तद्भक्त, तद्याजी होनेसे होता है। तन्मना अर्थात् सब प्राणियोंमें उनका दर्शन करना, हर समयमें उनका स्मरण करते रहना, सब कामों और सब घटनाओंमें उनकी शक्ति, ज्ञान और प्रेमका तमाशा समझकर परमा-

---

* मुझमें अपना मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर और मेरी वंदना कर; मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि (ऐसा करनेसे) तू मुझमें ही आ मिलेगा। क्योंकि तू मेरा प्रिय भक्त है।

सब धर्मोंको छोड़कर अर्थात् सब धर्मोंके फलको त्यागकर तू केवल मेरी ही शरणमें आजा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, डर मत। गीता अ० १८ श्लो० ६५-६६

नन्दित रहना। तद्भक्त अर्थात् उनपर पूर्ण श्रद्धा और प्रीति रखकर उनमें लीन रहना। तद्याजी अर्थात् अपने छोटे और बड़े सब कामोंको श्रीकृष्णके निमित्त अर्पण करना, एवं स्वार्थ और कर्मफलकी आसक्तिका त्यागकर उनके लिये कर्त्तव्य कर्म-में प्रवृत्त होना। पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करना मनुष्यके लिये कठिन तो अवश्य है, पर थोड़ीसी चेष्टा करनेसे ही स्वयं भगवान अभय दान देकर उसके गुरु, रक्षक और सुहृद होकर उसको योगपथमें अग्रसर कर देते हैं। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' भगवानने कहा है कि इस धर्म-का आचरण करना सहज और आनन्ददायक है। वास्तवमें यही बात है भी; सब धर्मोंका फल अनिर्वचनीय आनन्द, शुद्धि और शक्तिकी प्राप्ति है। "मामेवैष्यसि" अर्थात् हमें प्राप्त होगा, हमारे साथ वास करेगा, हमारी प्रकृति प्राप्त होगी। इस बात-में सादृश्य, सालोक्य और सायुज्यकी फल-प्राप्ति व्यक्त हो रही है। जो लोग गुणातीत हैं, वे ही भगवानके सादृश्य-प्राप्त हैं। उनकी किसी चीजमें आसक्ति नहीं रहती; इसीसे वे कर्म करते हुए पाप मुक्त होकर महाशक्तिके आधार होते हैं और उसकी शक्तिके सब कामोंमें आनन्दित होते हैं। सालोक्य भी देहावसानके पश्चात् केवल ब्रह्मलोकको जाना नहीं है, इस शरीरके रहते हुए भी सालोक्यकी प्राप्ति होती है। शरीर युक्त जीवका अपने अंतःकरणमें परमात्माके साथ क्रीड़ा करना, मनका एकाग्र होकर ध्यानमें पुलकित हो उठना, हृदय-

का प्रेमस्पर्शसे आनन्द-विह्वल हो जाना, बुद्धिका वारवार भगवद्वाणी सुनना तथा प्रत्येक चिन्तामें उन्हींकी प्रेरणा प्रतीत करना, मानव शरीरसे भगवानके साथ सालोक्य है।

सायुज्य भी इसी शरीरसे प्राप्त होती है। गीतामें भगवानके साथ निवास करनेकी बात पायी जाती है। जब सब जीवोंमें उनकी यह प्राप्ति स्थायी रूपसे हो जाती है, सब इंद्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वचा उन्हींका क्रमशः दर्शन, श्रवण, आघ्राण, आस्वादन और स्पर्श करती हैं, जीव हमेशा उन्हींमें अंशरूपसे रहकर अंततः विलीन हो जाता है, तब इसी शरीरसे सायुज्य भी मिलती है। बस यही परम गति सम्पूर्ण अनुशीलनका फल है। किन्तु इस धर्मका थोड़ा भी आचरण करनेसे महती शक्ति, विमल आनन्द, पूर्णसुख और शुद्धता लाभ होती है।

यह धर्म विशिष्ट गुणसम्पन्न लोगोंके लिये उत्पन्न नहीं हुआ है। भगवानने कहा है,—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री, पापयोनि-प्राप्त सब जीव पर्यन्त उनको इसी अर्थ द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। घोर पापी भी उनकी शरण लेकर थोड़े ही दिनोंमें पवित्र हो जाते हैं। इसलिये यही धर्म सब लोगोंके मानने योग्य है। जगदीश भगवानके मंदिरमें जाति विचार नहीं है। किन्तु जगदीश भगवानकी परम गति किसी भी और दूसरे धर्मनिर्दिष्ट परमावस्थासे कम नहीं है।

संन्यास और त्याग

“गीताका धर्म” शीर्षक प्रबन्धमें कहा जा चुका है कि गीतोक्त धर्म सबका आचरणीय धर्म है। गीतोक्त यानी गीतामें कथित योग पर सबका अधिकार है एवं उस धर्मकी परमावस्था किसी भी धर्मोक्त परमावस्थाकी अपेक्षा कम नहीं है। गीतामें वर्णित धर्म निष्काम कर्मोंका धर्म है। हमारे देशमें आर्य्य-धर्मके पुनरुत्थानके साथ सन्यासमुखी स्रोत सारे देशमें व्याप्त हो रहा है। राजभोगके अभ्यासी व्यक्तियोंका मन सहज ही गृह कर्म या गृह निवाससे संतुष्ट रहना नहीं चाहता, उनके लिये योगाभ्यासमें ध्यान और धारणाओंकी बहु प्रयत्न पूर्ण चेष्टा आवश्यक है। थोड़ा भी मनः क्षोभ हो जानेके कारण ध्यान और धारणाकी स्थिरता विचलित हो जाती है या एक दम नष्ट हो जाती है। घरमें इस तरहकी बाधायें प्रचुर परिमाणमें मौजूद रहती हैं। अतएव जो लोग पूर्व जन्ममें प्राप्त योगकी इच्छा लेकर जन्म ग्रहण करते हैं, वे युवावस्थासे ही संन्यासकी ओर आकृष्ट होकर स्वाभाविक ही एकान्तवासी हो जाते हैं। जिस समय इस

प्रकारके जन्मप्राप्त योगेच्छुकोंकी संख्या अधिक होकर उस देश मयी गमन शक्तिसे तरुण संप्रदायमें संन्यासमुखी स्रोत प्रवल हो जाते है, उस समय देशके कल्याणमार्गका द्वार खुल जाता है। किन्तु कभी कभी कल्याणमें विपत्तिकी भी आशंका होती है।

कहा जा चुका है कि संन्यास धर्म उत्कृष्ट धर्म है; किन्तु उस धर्मके ग्रहण करनेके लिये अधिकारी कुछ इने गिने ही लोग होते हैं, जो लोग विना अधिकार प्राप्त किये ही उस पथमें प्रवेश करते हैं, वे थोड़ी दूर जाकर वीच मार्गमें तामसिक अप्रवृत्ति-जनक आनन्दके वशीभूत हो पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। इस अवस्थामें यह जीवन सुखपूर्वक कटता है अवश्य, किन्तु संसारका हित भी साधित नहीं होता, और योगकी ऊपरी सीढ़ी पर उनका चढ़ना भी दुसाध्य हो जाता है। हम पर जैसी अवस्था आ उपस्थित हुई है, उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि रज और सत्त्व अर्थात् प्रवृत्ति और ज्ञान-का उदय करके तमोवर्जन पूर्वक देश और जातिकी सेवामें जातिकी आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक वल पुनरुज्जीवित करना हमारा प्रधान कर्तव्य है। इस जीर्ण शीर्ण तमः प्रपीड़ित स्वार्थ-सीमा-वद्ध जातिकी संतानोंमें ज्ञानी, शक्तिमान और उदार आर्य्य जातिकी पुनः सृष्टि करनी होगी। इस उद्देश्य-के साधनार्थ ही वंग देशमें इतने शक्ति विशिष्ट योगवल प्राप्त जीवोंका जन्म होता जा रहा है। यदि ये संन्यासकी मोहिनी

शक्तिद्वारा खिंचकर अपना धर्म छोड़, ईश्वर-प्रदत्त कर्मोंका निराकरण करेंगे तो धर्मनाशसे जातिका भी नाश हो जायगा। युवक संप्रदाय यह जानता है कि ब्रह्मचर्याश्रमकी शिक्षा भी चरित्र-गठनके समयके लिये निर्दिष्ट है, इस आश्रम-की परवर्ती अवस्था गृहस्थाश्रम विहित है। जब हम कुल-रक्षा और भावी आर्य-जातिके गठनद्वारा पूर्व पुरुषोंके समीप ऋण-मुक्त हो जायंगे, जब सत्कर्म और धन-संचयद्वारा समाजका ऋण एवं ज्ञान, दया, प्रेम और शक्ति वितरणसे संसारका ऋण चुका देंगे, जब भारतमाताके हितार्थ उदार और महत् कर्म सम्पादनसे जगज्जननी संतुष्ट हो जायंगी, तब वानप्रस्थ और संन्यासका आचरण करना दोष-पूर्ण नहीं होगा। अन्यथा वानप्रस्थ और संन्यासका आचरण करनेसे धर्मसंकर और अधर्मकी ही वृद्धि होगी और इसका दोषी हमें ही होना पड़ेगा। हाँ, जो लोग पूर्वजन्ममें ही ऋण-मुक्त होकर इस जन्ममें बाल्यावस्थामें ही संन्यासी हो जायं, उनकी बात न्यारी है। किन्तु अनधिकारियोंका संन्यास ग्रहण करना सर्वथा निन्दनीय, अहितकर और कष्टदायक है। वैराग्यबाहुल्य और क्षत्रियोंकी स्वधर्मत्याग-प्रवणतासे महान और उदार बौद्ध धर्मने देशका बहुत सा उपकार करते हुए भी अनिष्ट किया था। अंतमें बौद्ध धर्मका अस्तित्व भी भारतवर्षसे सदाके लिये मिट गया। नवीन युगके नूतन धर्ममें ऐसा होना चाहिये कि जिसमें बौद्ध धर्म की भांति इसमें भी दोष न घुस सके।

गीतामें भगवान श्रीकृष्णने वारम्वार अर्जुनको संन्यासका आचरण करनेसे क्यों रोका है? उन्होंने संन्यास धर्मका गुण तो सहर्ष स्वीकार किया है, पर वैराग्य और कृपाके वश अर्जुनके वारवार जिज्ञासा करनेपर भी श्रीकृष्णने कर्मपथके आदेशको न माननेकी अनुमति नहीं दी। अर्जुनने जिज्ञासा की कि यदि कर्मसे कामना-रहित योग-युक्त वुद्धि श्रेष्ठ होती है, तो आप क्यों गुरुजनोंके हत्यारूपी भीषण कर्ममें मुझे प्रवृत्त कर रहे हैं? वहुतोंमें अर्जुनका यह प्रश्न पुनरुत्थापन कर गया है अर्थात् वहुतसे लोग अर्जुनके पक्षमें हैं—यहाँतक कि कितने ही लोग भगवान श्रीकृष्णको निकृष्ट धर्मोपदेष्टा और कुपथ-प्रवर्त्तक कहनेमें भी संकुचित नहीं हुए। ऊपर श्रीकृष्णने समझाया है कि संन्याससे त्याग श्रेष्ठ है अर्थात् अपनी इच्छासे भगवानका स्मरण करके निष्कामभावसे अपने धर्मकी सेवा करना ही श्रेष्ठ है। त्यागका अर्थ कामना या इच्छाका त्याग अथवा स्वार्थ-त्याग है। इस त्यागकी शिक्षाके लिये पर्वत अथवा निर्जन स्थानमें आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं; न यह त्याग-शिक्षा इससे प्राप्त ही होती है। त्यागकी शिक्षा तो कर्म-क्षेत्रमें कर्मों द्वारा ही मिलती है, कर्म ही योग-पथपर चढ़ानेका उपाय है। यह विचित्र लीलामय जगत् जीवोंको आनन्द पहुँचनेके लिये रचा गया है। भगवानका यह उद्देश्य नहीं है कि यह आनन्दमय क्रीड़ा ढोंगियोंका खेल हो अर्थात् अनधिकारी लोग गेरुआ वस्त्र धारण कर संसार मिथ्या है, जीव नित्य है आदि वातें कहकर ढोंग रचें।

वे जीवको अपना सखा और खेलका साथी बनाकर संसारमें आनन्दका स्रोत बहाना चाहते हैं। हम जिस अज्ञानान्धकारमें हैं, क्रीड़ाकी सुविधाके लिये वे उससे दूर रहते हैं,—कहनेसे ही वह अंधकार घेर सकता है। उनके निर्दिष्ट किये हुए इस प्रकारके बहुतसे उपाय हैं जिनका अवलम्बन करनेसे अंधकार-से छुटकारा पाकर उनकी सान्निध्य प्राप्ति होती है। जो लोग भगवानकी क्रीड़ासे विरक्त या विश्राम-प्रार्थी होते हैं, उनकी अभिलाषाको वे पूर्ण करते हैं। किन्तु जो लोग उन्हींके लिये उस उपायका अवलंबन करते हैं, उनको भगवान इस लोक या परलोकमें खेलका उपयुक्त साथी बनाते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण-के प्रियतम सखा और क्रीड़ाके सहचर थे, इसीसे उन्होंने गीताकी गूढ़तम शिक्षा प्राप्त की। वह गूढ़तम शिक्षा "गीता का धर्म" शीर्षक निबंधमें समझानेकी चेष्टा की जा चुकी है। भगवानने अर्जुनको कहा है कि, कर्म-संन्यास जगत्‌के पक्षमें अनिष्टकर, एवं त्याग-हीन संन्यास विडम्बना मात्र है। संन्यास-से जो फल प्राप्त होता है, वह फल जगत्‌से भी प्राप्त होता है, अर्थात् अज्ञानसे मुक्ति, समता, शक्ति-लाभ, आनन्द-प्राप्ति और श्रीकृष्ण-लाभ होता है। लोक-पूज्य व्यक्ति जो कुछ करते हैं—लोकमें उनको आदर्श मानकर लोग उसका आचरण करते हैं; अतएव तुम यदि कर्म-संन्यास करोगे, तो सबलोग उसी पथके पथिक होकर धर्मसंकर और अधर्मका प्रसार करेंगे। तुम कर्मफलकी स्पृहा छोड़कर मनुष्यके साधारण धर्मका

आचरण करो और आदर्श स्वरूप होकर सबको अपने अपने कर्मपथमें अग्रसर होनेकी प्रेरणा करो। ऐसा होनेहीसे तुम हमारा साधर्म्य प्राप्त करोगे और प्रियतम सुहृद हो सकोगे। तदुपरान्त उन्होंने समझाया है कि, कर्मद्वारा उचित मार्गमें आरूढ़ होकर उस मार्गकी शेषावस्थामें शम अर्थात् सबसे पहले त्याग विहित है। यह भी कर्म-संन्यास नहीं कि अहंकारका नाश करके बहु-प्रयत्न-पूर्ण राजसिक चेष्टा त्यागसे भगवानसे मिलकर, गुणातीत होकर उनकी शक्तिद्वारा चलनेवाले यंत्र-की भाँति कर्म करे। उस अवस्थामें जीवका यह स्थायी ज्ञान होना चाहिये कि, मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं भगवानका अंश हूँ; हमारे स्वभाव-रचित इस शरीररूपी कर्म-मय आधारमें भगवानकी शक्ति ही लीलाका कार्य कर रही है। जीव साक्षी और भोक्ता है, प्रकृति कर्त्ता है और परमेश्वर अनुमंता है। इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाला मनुष्य शक्तिके किसी भी कार्यारम्भमें कामना रूप साहाय्य अथवा बाधा देनेका इच्छुक नहीं होता। शक्तिके अधीन होकर देह-मन-बुद्धि ईश्वरादिष्ट कार्यमें प्रवृत्त-होती है। कुरुक्षेत्रका भीषण हत्याकांड भी यदि भगवानका भी अनुमत हो एवं स्वधर्म पथमें यदि वही घटे, तो उससे अलिप्त बुद्धि कामना रहित ज्ञान-प्राप्त जीवका पापसे स्पर्श नहीं होता; किन्तु यह बहुत ही थोड़े लोगोंका लभ्यज्ञान और आदर्श है। यह साधारण धर्म नहीं हो सकता। तो फिर इस साधारण पथके पथिकका कर्त्तव्य-कर्म क्या है? उसको भी

वह ज्ञान कितने ही परिमाणोंमें प्राप्त है कि वे यंत्री और मैं यंत्र हूँ। उस ज्ञानके बलसे भगवानको स्मरण करके स्वधर्म-सेवा ही उसके लिये आदिष्ट है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

अपना धर्म स्वभाव नियत कर्म है। कालकी गतिसे स्वभावकी अभिव्यक्ति और परिणति होती है। कालकी गतिसे मनुष्यका जो साधारण स्वभाव गठित होता है, वह स्वभाव-नियत कर्म युगधर्म है। जातिका कर्मकी गतिसे जो जातीय-स्वभाव गठित होता है, वह स्वभाव-नियत कर्म जाति-का धर्म है। इसी प्रकार व्यक्तिका कर्मकी गतिसे जो स्वभाव गठित होता है, वह स्वभाव-नियत कर्म व्यक्तिका धर्म है। येही अनेक तरहके धर्म सनातन धर्मके साधारण आदर्शों-द्वारा परस्पर संयुक्त एक दूसरेसे मिले हुए और शृंखलित हैं। साधारण धार्मिकोंके पक्षमें यह धर्म ही स्वधर्म है। ब्रह्मचारी अवस्थामें इस धर्म-सेवाके लिये ज्ञान और शक्ति संचित होती है, गृहस्थाश्रममें यह धर्म अनुष्ठित होता है और इस धर्मके संपूर्ण अनुष्ठानसे वाणप्रस्थ या संन्यासमें अधिकारकी प्राप्ति होती है। यही धर्मकी सनातन गति है।

माया

हमारे पुरातन दार्शनिक-गण जिस समय जगतके मूल तत्वोंके अनुसन्धानमें प्रवृत्त हुए, उस समय उन्हें इस प्रपंचके मूलमें एक अनश्वर व्यापक वस्तु-का अस्तित्व ज्ञात हुआ। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान-वेत्ता-गण चिरकालके अनुसंधानसे बाह्य जगतमें भी इस अनश्वर सर्वव्यापी एकत्वके अस्तित्वके संम्बन्धमें ही कृतनिश्चय हुए हैं। उन्होंने आकाशको ही भौतिक प्रपंचका मूल तत्त्व समझकर स्थिर किया है। भारतके प्राचीन दार्शनिक लोगोंने भी कई सहस्र वर्ष पहले इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया था कि आकाश ही भौतिक प्रपंचका मूल है, इसीसे और सब भौतिक अवस्थायें प्राकृतिक परिणामद्वारा उद्भूत होती हैं। किन्तु वे इसे अंतिम सिद्धान्त समझकर संतुष्ट नहीं हुए। इसीसे वे योग-बलसे सूक्ष्म जगतमें प्रवेश करके समझ गये कि स्थूल भौतिक प्रपंचके पश्चात् एक और सूक्ष्म प्रपंच है, और इस प्रपंचका मूल भौतिक तत्व सूक्ष्म आकाश है। किन्तु आकाश भी शेष वस्तु नहीं, क्योंकि वे शेष वस्तुको प्रधान कहते थे। प्रकृति या जगन्मयी-क्रिया शक्तिही परब्रह्मकी सर्वव्यापिनी गतिसे यह प्रधान रचना करके, उससे करोड़ों

अणुओंका उत्पादन करती है और इन अणुओंद्वारा ही सूक्ष्म भूत गठित होता है। प्रकृति वा क्रिया-शक्ति अपने लिये कुछ नहीं करती; जिनकी शक्ति है, उन्हींकी तुष्टिके सम्पादनार्थ इस प्रपंचकी रचना और अनेक प्रकारकी लीला करती है। आत्मा अथवा पुरुष इस प्रकृतिकी क्रीड़ामें अध्यक्ष और साक्षी है। मुख्य मुख्य उपनिषदोंमें आर्य्य ऋषियोंके तत्त्वोंकी खोज करनेमें जो सत्यका आविष्कार हुआ था, उसका केन्द्र स्वरूप यह ब्रह्मवाद और पुरुष-प्रकृति-वाद प्रतिष्ठित है। तत्त्व-दर्शियोंने इस मूल सत्यको लेकर अनेक तरहके तर्कों और वाद-विवादों-से भिन्न भिन्न चिन्ता-प्रणालियोंकी सृष्टि की है। जो ब्रह्मवादी थे, वे वेदान्त-दर्शनके प्रवर्त्तक और जो प्रकृति-वादके पक्षपाती थे, वे सांख्य-दर्शनके प्रचारक हुए। इससे भिन्न लोग परि-माणुओंको ही भौतिक प्रपंचका मूल तत्त्व मानकर स्वतंत्र पथ-के पथिक हुए।

इस प्रकार अनेक प्रकारके पंथोंका प्रादुर्भूत होनेके पश्चात् भगवान श्रीकृष्णने गीतामें इन सब चिन्ता-प्रणालियोंका सम-न्वय और सामंजस्य स्थापन करके व्यासदेवके मुखसे उपनि-षदोंकी सत्यता पुनः प्रवर्त्तित करायी। पुराणके रचयिताओंने भी व्यासदेव-रचित पुराणके आधारपर उस सत्यकी बहुतसी व्याख्या उपन्यास और रूपकच्छलमें साधारण लोगोंके समीप उपस्थित किया।

पर इससे विद्वानोंका वाद-विवाद बन्द नहीं हुआ और

वे अपना अपना मत प्रकाशपूर्वक वृहद्रूपसे दर्शन-शास्त्रकी भिन्न भिन्न शाखाओंके सिद्धान्तोंको अनेक प्रकारके तर्कों-द्वारा प्रतिपन्न करने लगे। हमारे षड्दर्शनों (छ दर्शनशास्त्र) के आधुनिक स्वरूप उस परवर्त्ती चिन्ताके फल हैं। अंतमें स्वामी शंकराचार्य्यने देशभरमें वेदान्त प्रचारकी अपूर्व और स्थायी व्यवस्था करके सर्वसाधारणके हृदयमें वेदान्त-का आधिपत्य वद्धमूल किया। इसके अतिरिक्त और पाँच दर्शन अल्प संख्यक विद्वानोंमें प्रतिष्ठित होकर रहे अवश्य, किन्तु उनका आधिपत्य और प्रभाव थोड़े ही दिनोंमें चिन्ता जगत-से प्रायः लोप सा हो गया। सर्व-सम्मत वेदान्त-दर्शनमें मतभेद उत्पन्न होकर तीन मुख्य शाखायें और बहुतसी गौण शाखायें स्थापित हुईं। ज्ञान-प्रधान अद्वैतवाद एवं भक्ति-प्रधान विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवादका विरोध अब भी हिंदू धर्म्म-में विद्यमान है। ज्ञानमार्गी, भक्तोंके स्वतंत्र-प्रेम और भाव-प्रवणताको उन्माद लक्षण समझ उड़ा देते हैं; भक्त भी ज्ञान-मार्गियोंकी तत्व-ज्ञान-स्पृहाको शुष्क तर्क समझकर उसकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु ये दोनों ही मत भ्रान्त और संकीर्ण हैं। क्योंकि भक्ति–शून्य तत्व-ज्ञानसे अहंकारकी वृद्धि होकर मुक्तिका मार्ग अवरुद्ध होता है और ज्ञान–शून्य भक्ति अंध–विश्वास और भ्रम-पूर्ण तामसिकता उत्पन्न करती है। प्रकृत उपनिषद-दर्शित, धर्म-पथमें ज्ञान, भक्ति और कर्मका सामंजस्य एवं परस्पर सहायता ही रक्षित हुई है।

यदि सर्वव्यापी, सर्व सम्मत आर्य्य-धर्मका प्रचार करना हो, तो उसको प्रकृत आर्य्य-ज्ञानके ऊपर संस्थापित करना होगा। दर्शन-शास्त्र चिरकालसे एकवर्गी प्रकाशक और असम्पूर्ण हैं। सम्पूर्ण जगतको तर्कद्वारा संकीर्ण मतका अनुयायी होनेके लिये सीमावद्ध करते जानेसे सत्यका एक ओर विशद रूपसे कथन तो होगा अवश्य, किन्तु दूसरी ओर अपलाप या झूठका प्रचार ही होगा। अद्वैतवादियोंकी ओरका मायावाद इसी तरहके अपलापका दृष्टान्त है। ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है, बस यही मायावादका मूल मन्त्र है। यह मन्त्र जिस जातिकी चिन्ता-प्रणालीके मूल मन्त्रमें प्रतिष्ठित होता है, उसी जातिमें ज्ञानकी इच्छा, वैराग्य और संन्यासप्रियताकी वृद्धि होती है। इतना ही नहीं उससे रजो-शक्ति निर्वल होकर सत्त्व और तमकी प्रवलता भी होती है। परिणाम यह होता है कि एक ओर तो ज्ञान-प्राप्त संन्यासी, संसारमें तृष्णासे उत्पन्न हुए प्रेम करनेवाले भक्तों और शान्ति-प्रार्थी वैरागियोंकी संख्या-वृद्धि होती है और दूसरी ओर तामसिक, अज्ञ, प्रवृत्ति रहित, लीन और अकर्मण्य साधारण प्रजाकी दुर्दशा ही संघटित होती है। भारतमें मायावादके प्रचारसे उक्त घटना ही घट रही है। क्योंकि जगत यदि मिथ्या ही है, तो फिर ज्ञान-तृष्णाके अतिरिक्त और सारी चेष्टाओंको निरर्थक और अनिष्टकर कहना होगा। किन्तु मनुष्यके जीवनमें ज्ञान-तृष्णाके अतिरिक्त और भी ऐसी वहुतसी प्रवल और उपयोगी

वृत्तियां क्रीड़ा कर रही हैं, जिनकी उपेक्षा करके कोई भी जाति टिक नहीं सकती। इसी अनर्थके भयसे ही शंकराचार्य्यने पारमार्थिक और व्यावहारिक नामक ज्ञानके दो अंगोंको दिखाकर अधिकार-भेदसे ज्ञान और कर्मकी व्यवस्था की। किन्तु उन्होंने उस युगके क्रिया-पूर्ण कर्म-मार्गका तीव्र प्रतिवाद करनेमें विपरीत फल पाया है। शंकरके प्रभावसे वह कर्म्म-मार्ग लुप्तसा हो गया। सब वैदिक क्रियायें लुप्त हो गयीं। किंतु साधारण लोगोंके मनमें जगत माया-रचित अर्थात् जगत् मायासे उत्पन्न है, कर्म्म अज्ञानसे उत्पन्न और मुक्तिका विरोधी है, धर्माधर्म ही सुख दुःखका कारण है इत्यादि—तम-प्रवर्तक मत ऐसे दृढ़-रूपसे टिक गये कि, रज शक्तिका पुनः प्रकाश असंभवसा हो गया। आर्य्य-जातिकी रक्षाके लिये भगवानने पुराण और तंत्र प्रचारसे मायावादका प्रतिरोध किया। जिसमें पुराणोंद्वारा तो उपनिषद्से उत्पन्न आर्य्य-धर्मके बहुतसे अंशोंको उन्होंने रक्षा की और तंत्र शक्तिकी उपासनासे मुक्ति और भुक्ति स्वरूप दो प्रकारके फलकी प्राप्तिके निमित्त लोगोंको कर्म्ममें प्रवृत किया। प्रायः जिन्होंने जातिके गौरवकी रक्षाके लिये युद्ध किये हैं, जैसे प्रताप सिंह, शिवाजी, प्रतापादित्य, चन्द्राय प्रभृति—प्रायः सभी शक्तिके उपासक अथवा तांत्रिक योगियोंके शिष्य थे। तमसे उत्पन्न अनर्थको रोकनेके लिये ही गीतामें भगवान श्रीकृष्णने भी कर्म्म-संन्यासका विरोधी उपदेश ही दिया है।

मायावाद सत्यपर स्थित है। उपनिषदोंमें भी कहा गया

है कि, ईश्वर परम मायावी है। वह अपनी मायाद्वारा दृश्य जगत्‌की सृष्टि करता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है कि, त्रैगुण्यमयी माया ही सारे संसारमें व्याप्त रहती है। एक अनिर्वचनीय ब्रह्म ही जगत्‌का मूल सत्य है; बाकी उनका समस्त प्रपंच अभिव्यक्ति मात्र है, जोकि स्वयं परिणामशील और नश्वर है। यदि ब्रह्म एक है तो यह भेद और बहुत्व कहांसे उत्पन्न हुआ, यदि ब्रह्म सनातन है, तो वह किसमें प्रतिष्ठित है, यदि ब्रह्म सत्य है, तो वह किस तरह उत्पन्न हुआ, ये प्रश्न अनिवार्य हैं। ब्रह्म यदि एक मात्र सत्य है तो ब्रह्मसे ही भेद और बहुत्वकी उत्पत्ति है। ब्रह्ममें प्रतिष्ठित ब्रह्मकी किसी अनिर्वचनीय शक्तिद्वारा ये सब उत्पन्न हुए हैं, यही उपनिषदोंका उत्तर है। उस शक्तिको कहीं तो मायावी-की माया, कहीं पुरुष अधिष्ठित प्रकृति और कहीं ईश्वरकी विद्या अविद्यामयी इच्छा-शक्ति कहा गया है। किन्तु इससे तार्किकोंके मनका संदेह दूर नहीं हो सकता; किस तरह एक-से बहु और अभेदसे भेद उत्पन्न हुआ, इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकी। फलतः एक उत्तर सहज ही मनमें उदय होता है कि जो एक है वह बहु नहीं हो सकता और सनातन अभेदसे भेद उत्पन्न नहीं हो सकता, बहु मिथ्या है, अभेद सत्य है, और सनातन अद्वितीय आत्मामें स्वप्नवत् भासमान माया मात्र है; आत्मा ही सत्य और सनातन है।

पर इससे भी एक सन्देह बना ही रह गया कि 'माया"

क्या है और वह कहाँसे उत्पन्न होती है, किसमें प्रतिष्ठित रहती है और किस तरह उत्पन्न होती है ? श्रीमच्छंकराचार्यने इसका उत्तर दिया है कि माया क्या है, सो नहीं कहा जा सकता; माया अनिर्वचनीय अर्थात् वाणीसे परे है। यह माया उत्पन्न नहीं होती, यह चिरकालसे है और नहीं भी है। पर इससे भी संतोष-जनक उत्तर न मिलनेके कारण भ्रम दूर नहीं होता। इस तर्कसे एक अद्वितीय ब्रह्ममें एक और सनातन अनिर्वचनीय वस्तु स्थापित तो हुई, पर एकत्वकी रक्षा नहीं हुई।

शंकरकी युक्तियोंसे उपनिषदोंकी युक्तियां उत्कृष्ट हैं। भगवानकी प्रकृति जगतका मूल है और उसी प्रकृतिका नाम शक्ति—सच्चिदानन्दकी सच्चिदानन्द अर्थात् सत्, चित्, आनन्द-मयी शक्ति है। आत्माके लिये भगवान परमात्मा और जगत्के लिये वे परमेश्वर हैं। परमेश्वरकी इच्छा शक्तिमयी है। उस इच्छाद्वारा ही एकसे बहु और अभेदसे भेद उत्पन्न होता है। परमार्थकी दृष्टिसे ब्रह्म सत्य, और मायासे उत्पन्न जगत् मिथ्या है; कारण यह है कि जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होता है और फिर उसीमें विलीन हो जाता है। देशकालमें ही प्रपंचका अस्तित्व है, उसका अस्तित्व ब्रह्मकी देशकालातीत अर्थात् देश कालसे न्यारेकी अवस्थामें नहीं है। ब्रह्ममें प्रपंच-युक्त देशकाल है, किन्तु ब्रह्म देशकालमें आबद्ध नहीं। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न, ब्रह्ममें ही वर्त्तमान है; सनातन अनिर्देश्य ब्रह्ममें नाशवान् जगत्की स्थापना है और वहीं ब्रह्मकी विद्या अविद्यामयी शक्तिसे

उत्पन्न जगत् विराजमान भी रहता है। जिस प्रकार मनुष्यमें प्रकृत सत्य प्राप्त करनेकी शक्ति और व्यतीत कल्पनाद्वारा मिथ्या वस्तु प्राप्त करनेकी शक्ति विद्यमान है, उसी प्रकार ब्रह्ममें भी विद्या और अविद्या, सत्य और मिथ्या है। तो फिर अनृत यानी मिथ्या देशकालसे उत्पन्न है ! जिस प्रकार मनुष्यकी कल्पना देशकालके अनुसार सत्यमें परिणत होती है, उसी प्रकार जिसे हम अनृत कहते हैं, वह भी सर्वथा अनृत नहीं, सत्यका विलोम मात्र है। वस्तुतः देखा जाय तो 'सर्वं सत्यं' अर्थात् सब सत्य है, झूठ कुछ भी नहीं है। हाँ, देशकालसे न्यारेकी अवस्थामें जगत् मिथ्या है अवश्य, किन्तु हम देश कालसे न्यारे नहीं हैं। अतः हम जगत्को मिथ्या कहनेके अधिकारी कदापि नहीं। क्योंकि देशकालमें जगत् मिथ्या नहीं वरन् सत्य है। जब देशकालसे न्यारे होकर ब्रह्ममें विलीन होनेका समय आवेगा और हममें वैसी शक्ति उत्पन्न हो जायगी, तब हम जगत्को मिथ्या कह सकेंगे और तभी जगत्को मिथ्या कहनेका अधिकार ईश्वर-प्रदत्त समझा जायगा। अनधिकारीके यह कहनेसे कि जगत् मिथ्या है, मिथ्याचारकी वृद्धि और धर्मका पतन ही होता है। हमारे लिये तो ब्रह्मको सत्य और जगत्को मिथ्या कहनेकी अपेक्षा ब्रह्मको सत्य और जगत्को ब्रह्म कहना, अधिक उचित और हितकर है। यही उपनिषदोंका भी उपदेश है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' बस इसी सत्यपर आर्यधर्म स्थित है।

अहंकार

हमारी भाषामें 'अहंकार' शब्दका ऐसा विकृत अर्थ हो गया है कि, आर्य-धर्मके प्रधान तर्कोंको समझा देने-पर भी चिरकालसे भ्रम बना ही हुआ है। गर्व, राजसिक अहंकारका एक विशेष परिणाम मात्र है; किन्तु साधारणतः अहंकार शब्दका यही अर्थ समझा जाता है कि, अहंकारको छोड़नेकी बात कहनेसे गर्व या घमंड परित्याग वा राजसिक अहंकारके निषेधका अर्थ ही हृदयमें बोध होता है। पर वस्तुतः अहंपन ही अहंकार है। अहं बुद्धि मनुष्यकी विज्ञानमय आत्मामें उत्पन्न होती एवं प्रकृतिके अंतर्गत तीन गुणोंकी क्रीड़ामें उसकी तीन प्रकारकी वृत्तियाँ (सात्त्विक अहंकार, राजसिक अहंकार औरतामसिक अहंकार) विकसित होती हैं। सात्त्विक अहंकार ज्ञान और सुख प्रधान है। हमें ज्ञान प्राप्त हो रहा है, हमें आनन्द हो रहा है, येही सब भाव सात्त्विक अहंकारकी क्रियायें हैं। साधकका अहं, भक्तका अहं, ज्ञानीका अहं और निष्काम कर्मीका अहं, सत्त्व-प्रधान, ज्ञान-प्रधान और सुख-प्रधान है। राजसिक अहंकार कर्म-प्रधान है। मैं

कर्म कर रहा हूँ, मैं जय पा रहा हूँ, पराजित हो रहा हूँ, प्रयत्न कर रहा हूँ, कार्य्यकी सफलता और असफलता सब मेरी ही है, मैं बलवान हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, आदि भाव रजोगुणी-वृत्ति-प्रधान, कर्म-प्रधान और प्रवृत्ति-जनक हैं। तामसिक अहंकार अज्ञता और निश्चेष्टतासे पूर्ण है। मैं अधम हूँ, मैं निरुपाय हूँ, मैं आलसी हूँ, मैं अक्षम हूँ, मैं हीन हूँ, मुझे कुछ भी आशा भरोसा नहीं है, मैं प्रकृतिमें लीन हो रहा हूँ, लीन होना ही मेरी गति है, आदि सब भाव तमो-प्रधान अप्रवृत्ति और अप्रकाश-जनक हैं। जो लोग तामसिक अहंकार-में रत हैं, उनका गर्व नहीं वरन् पूर्ण मात्रामें अहंकार है; किन्तु वह अहंकार अधोगति, नाश और शून्य-ब्रह्म-प्राप्तिका कारण है। जिस प्रकार गर्वका अहंकार होता है, उसी प्रकार नम्रताका अहंकार भी होता है। जिस प्रकार बलका अहंकार होता है, उसी प्रकार निर्बलताका भी अहंकार होता है।

जो लोग तामसिक भावमें गर्व रहित हैं, वे अधम, निर्बल, भय और निराशासे पद-पदानत (मुक्तिसे गिरे हुए) हैं। तामसिक नम्रता, तामसिक क्षमता और तामसिक सहिष्णुता-का कुछभी मूल्य नहीं और न कोई सुंदर परिणाम ही है। जो सब जगह नारायणको जानकर सबके समीप नम्र, सहिष्णु और क्षमावान होकर रहते हैं, उन्हींको पुण्य होता है और वे ही सच्चे पुण्यवान भी हैं। जो इन सब अहंमन्य वृत्तियोंका परित्याग करके त्रैगुण्यमयी मायाका अतिक्रम करते हैं,

उनका न तो गर्व ही है और न नम्रता ही; परमात्माकी जगन्मयी शक्ति उनके मन-प्राण-रूपी आधारसे जो भाव प्रदान करती है उसे वे लेकर संतुष्ट, अनासक्त, अटल शान्ति और आनन्दको प्राप्त हो सकते हैं। तामसिक अहंकार सदा त्याज्य है। राजसिक अहंकारको जाग्रत करके सत्त्वोत्पन्न ज्ञानकी सहायतासे उसे निर्मूल करना उन्नतिका प्रथम सोपान या सीढ़ी है। राजसिक अहंकारके हाथसे मुक्तिके उपाय ज्ञान, श्रद्धा और भक्तिका विकास होता है। सतोगुणी मनुष्य यह नहीं कहता कि मैं सुखी हूँ, वह कहता है कि मेरे प्राणमें सुखका विकास हो रहा है; वह नहीं कहता कि मैं ज्ञानी हूँ, बल्कि वह यह कहता है कि मुझमें ज्ञानका संचार हो रहा है: वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि यह सुख और ज्ञान मेरा नहीं वरन् जगन्माताका है।

पर सब तरहके अनुभवके साथ जब आनन्दके सम्भोगके लिये लीनता होती है, तब उस ज्ञानी अथवा भक्तका भाव अहं-युक्त हो जाता है। 'मेरा तेरा' जबतक कहा जाता है, तबतक अहं-बुद्धिका परित्याग नहीं हुआ करता और अहं-बुद्धि बनी रहती है। गुणातीत यानी शरीरसे न्यारे व्यक्ति ही पूर्णरूपसे अहंकारपर विजय प्राप्त करता है। वह जानता है कि जीव साक्षी और भोक्ता है, पुरुष परमात्मा अनुमन्ता हैं और प्रकृति कर्त्ता है। इसमें "मैं" नहीं है, सभी एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मकी विद्या-अविद्यामयी शक्तिकी लीला है। अहं ज्ञानजीव अधिष्ठित

प्रकृतिमें मायासे उत्पन्न एक प्रकारका भाव मात्र है। इस अहं ज्ञानसे रहित भावकी अंतिम अवस्था सच्चिदानन्दमें विलीन है। किन्तु जो लोग गुणातीत होकर भी पुरुषोत्तमकी इच्छा और लीलामें अवस्थान करते हैं, वे पुरुषोत्तम और जीवकी स्वतंत्र अस्तित्व-रक्षा करके अपनेको प्रकृति-विशिष्ट परमात्माका अंश समझ लीलाका कार्य्यसम्पन्न करते हैं। इस भावको अहंकार नहीं कहा जा सकता। यही भाव परमेश्वरका भी है। उनमें अज्ञान और लिप्तता नहीं है, किन्तु आनन्दमय अवस्था स्वस्थ न होकर जगन्मुखी होती है। जिनका यह भाव हो, वे ही जीवन्मुक्त* हैं। लयरूप मुक्ति देहक्षीणताके बाद प्राप्त की जाती है; इस मुक्तिका दूसरा नाम 'विदेह मुक्ति' है। जीवन्मुक्त दशा शरीरके रहते ही प्राप्त होजाती है।

* मुक्त दो तरहके होते हैं। जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त।

निवृत्ति

हमारे देशमें धर्मकी कहीं भी संकीर्ण और जीवनके महत् कर्मकी विरोधी व्याख्या मनीषिगणों यानी ऋषियों या पंडितोंने नहीं की है। सारा जीवन ही धर्मक्षेत्र है; हिंदुओंके ज्ञान और शिक्षाके मूलमें यह महत् और गम्भीर तत्त्व पाया जाता है। पाश्चात्य देशोंकी शिक्षाके स्पर्शसे कलुषित होकर हमारे ज्ञान और शिक्षाकी टेढ़ी और अस्वाभाविक अवस्था हो गयी है। हमलोग प्रायः ही इस भ्रान्त धारणाके वशीभूत हो जाते हैं कि, संन्यास, भक्ति और सात्त्विक भावसे भिन्न और कुछ भी धर्मका अंग नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वान इस संकीर्ण धारणाको लेकर धर्मालोचन करते हैं। हिंदूलोग धर्म और अधर्म इन दो भागोंमें जीवनके जितने काम हैं, सबको विभक्त करते हैं, और पाश्चात्य जगत्में धर्म अधर्म और धर्माधर्मके बहिर्भूत जीवनकी अधिकांश क्रियाओं और वृत्तियोंका अनुशीलन ये तीन भाग किये गये हैं। भगवानकी प्रशंसा, प्रार्थना, संकीर्त्तन, और गिर्जेमें पादरियोंकी वक्तृताओंके सुनने आदि कर्मोंको धर्म या Religion कहते हैं। Morality या सत्कार्य धर्मका अंग नहीं, वह स्वतंत्र है। इसीसे

बहुतसे लोग Religion (धर्म) और Morality (सत्कार्य) इन्हीं दोनोंको धर्मका गौण अंग समझकर स्वीकार भी करते हैं। गिर्जेमें न जाना नास्तिकवाद या संशयवाद एवं Religion की निन्दा अथवा उसके सम्बंधमें उदासीनताके भावोंको अधर्म (Irreligion) कहते हैं, और कुकार्यको Immorality कहते हैं। पूर्वोक्त मतानुसार यह भी अधर्मका एक अंग ही है। किंतु अधिकांश कर्म और वृत्तियां धर्माधर्मके बाहर हैं।

Religion and Life, धर्म और कर्म स्वतंत्र हैं। हम-लोगोंमें बहुतसे लोग धर्म शब्दका खूब ही टेढ़ामेढ़ा अर्थ करते हैं। साधु संन्यासियोंकी बातों, भगवानकी बातों, देवी देवताओंकी बातों और संसार वर्जनकी बातोंको वे धर्मके नामसे पुकार करते हैं, किन्तु और कोई प्रसंग खड़ा करने-पर वे कहते हैं कि यह तो सांसारिक बात है, धर्मकी बात नहीं। वे लोग इन्हीं बातोंके करनेमें अपने धर्मकी रक्षा समझते हैं। उनके मनमें पाश्चात्य Religion (धर्म) का भाव सन्निविष्ट हो गया है; धर्म शब्द सुनते ही Religion की परिभाषा उनके मनमें उदय हो जाती है। इसका कारण अनभिज्ञता है। अपनी अनभिज्ञतासे ही वे लोग इस अर्थमें धर्म शब्दका व्यवहार करते हैं।

किन्तु हमारे देशकी बातोंमें इस तरहके विदेशी भावोंका प्रवेश होनेसे हमारा उदार सनातन आर्यभाव और शिक्षा नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। सारा जीवन धर्मक्षेत्र है और संसार भी धर्म

है। केवल आध्यात्मिक ज्ञानकी आलोचना और भक्तिका भाव ही धर्म नहीं, कर्म भी धर्म है। हमारे सारे साहित्यमें यही उच्च शिक्षा अति प्राचीन कालसे सनातन भावसे व्याप्त हो रही है कि,—"एष धर्मः सनातनः।"

बहुतोंकी धारणा है कि कर्म निश्चय ही धर्मके अंग हैं; किन्तु इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि सब तरहके कर्म धर्मके अंग नहीं; केवल जो सात्त्विक भावापन्न और निवृत्तिके अनुकूल कर्म हैं, वे ही इस नामके अधिकारी हैं। पर यह भी भ्रान्त धारणा है। जिस प्रकार सात्त्विक कर्म धर्म है, उसी प्रकार राजसिक कर्म भी धर्म है; जिस प्रकार जीवोंपर दया करना धर्म है, उसी प्रकार धर्म युद्धमें देशके शत्रुओंका हनन या वध करना भी धर्म है; जिस प्रकार परोपकारके लिये अपने सुख, धन और प्राणतकको जलांजलि दे देना धर्म है, उसी प्रकार धर्मका साधन स्वरूप शरीरकी उचित रूपसे पूर्ण रक्षा करना भी धर्म है। राजनीति भी धर्म है, काव्य-रचना भी धर्म है, चित्रकारी भी धर्म है, मधुर गानसे दूसरोंको मनोरंजित करना भी धर्म है। जिस कार्यमें स्वार्थ न हो और दूसरोंका हित हो, वही धर्म है,—चाहे वह कर्म बड़ा हो अथवा छोटा। जब हम छोटे और बड़ेका हिसाब करके देखते हैं, तब पता चलता है कि भगवानके समीप छोटे और बड़ेका भेद बिलकुल ही नहीं है, किसी भी भावसे मनुष्य जो कुछ अपने स्वभावानुसार अथवा अदृष्टदत्त कर्मका आचरण करता

है, उसे भगवान अच्छी तरह देख लेते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता। कर्म करना, उसे भगवानहीके चरणोंमें अर्पण करना, यज्ञ समझकर करना और उन्हींकी प्रकृतिद्वारा किया हुआ समझकर समभावसे स्वीकार करना ही उच्चधर्म और श्रेष्ठधर्म है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। *
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनं॥
कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

अभिप्राय यह कि जो कुछ देखे, जो कुछ करे, जो कुछ चिन्तन करे, सभी भगवानमय समझना चाहिये। यह जगत् भगवानमय है; इस प्रकार घिरा हुआ है जिस प्रकार वस्त्रसे कोई वस्तु ढँकी हो। वह पर्दा पाप और अधर्मद्वारा नहीं हटाया जा सकता। मनमें सब कर्मोंकी वासना और आसक्ति त्याग करके तथा कामना रहित होकर कर्मके स्रोतमें जो कुछ प्राप्त हो, उसका ही भोग करना, सारे कर्मोंको करते रहना, शरीरकी रक्षा करना, बस यही भगवानका प्रिय आचरण करना एवं श्रेष्ठ धर्म है। यही प्रकृत निवृत्ति भी है। बुद्धि ही निवृत्तिका स्थान है, प्राणों † और इंद्रियोंमें तो प्रवृत्तिका क्षेत्र है। बुद्धिका प्रवृत्ति-द्वारा कृतस्पर्श होनेसे ही सारी झंझटें उपस्थित होती हैं। बुद्धि

---

* ईशावास्योपनिषद्का प्रारम्भिक मंत्र है।

† प्राण पांच हैं; प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

निर्लिप्तावस्थामें साक्षी और भगवानका Prophet (पैग़म्बर या भविष्य-वक्ता) या Spokesman (प्रतिनिधि) होकर रहेगी, निष्काम होकर उनकी अनुमोदित प्रेरणा प्राण और इंद्रियोंको ज्ञान करा देगी, और उसीके अनुसार प्राण और इंद्रियाँ अपना अपना काम करेंगी। कर्मोंका त्याग करना अत्यन्त क्षुद्रता है, कामनाओंका त्याग करना ही प्रकृत त्याग करना है। शरीरकी निवृत्ति निवृत्ति नहीं, बुद्धिकी निर्लिप्तताही प्रकृत निवृत्ति है।

उपनिषद

हमारा धर्म बहुत विशाल और अनेक तरहकी शाखा-प्रशाखाओंसे सुशोभित है। उसका मूल गम्भीरतम ज्ञानमें आरूढ़ है, और उसकी सब शाखाएं कर्मोंके बहुत दूर प्रान्ततक फैली हुई हैं। जिस प्रकार गीताका अशोक वृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' और 'अधःशाखम्' है, उसी प्रकार यह धर्म ज्ञानद्वारा संस्थित कर्म-प्रेरक है। निवृत्ति इसकी भित्ति, प्रवृत्ति इसका गृह, छत और दीवारें तथा मुक्ति ही इसकी चूड़ा है। मानव-जातिका सारा जीवन इस विशाल हिंदूधर्म-वृक्षके ही सहारे है।

सबलोग समझते हैं कि वेद हिंदूधर्मद्वारा स्थापित हुआ है। किंतु बहुत ही थोड़ेसे लोगोंको ही उसकी स्थापना और भीतरी भेदका पूरा हाल मालूम है। प्रायः शाखाके अगले भागमें ही टिककर हम दो एक सुस्वादु नश्वर फलका आस्वाद प्राप्त करते हैं, मूलकी कुछ भी खोज नहीं करते। हमने यह तो अवश्य सुना है कि, वेदके दो भाग हैं; एकका नाम तो है कर्म-कांड और दूसरेका ज्ञान-कांड है। किंतु वास्तवमें कर्मकांड और ज्ञानकांड हैं क्या, सो हम नहीं जानते। हमने मेक्समूलर-कृत ऋग्वेदकी व्याख्याका भलीभांति अध्ययन किया है;

रमेशचंद्रका किया हुआ बँगला अनुवाद भी पढ़नेसे हम वंचित नहीं हैं; किन्तु ऋग्वेद क्या है, सो नहीं जानते। मेक्समूलर और रमेशचंद्र दत्त महाशयके ग्रंथोंसे हमने यही ज्ञान प्राप्त किया है कि, ऋग्वेदके ऋषि लोग प्रकृतिके बाहरी पदार्थों अथवा सर्वभूतोंकी पूजा करते थे, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादिका स्तव-स्तोत्र ही सनातन हिन्दू-धर्मका अनादि अनन्त और अपोरुषेय मूल ज्ञान है। हम इसीपर विश्वास-कर वेदोंका, ऋषियोंका और हिन्दू धर्मका अनादर करके अपने मनमें समझते हैं कि हम बड़े ही विद्वान और बड़े ही "आलोक प्राप्त" हैं। असली वेदमें ठीक ठीक क्या है, अथवा शंकराचार्य प्रभृति महाज्ञानी और महापुरुष लोग इन स्तव-स्तोत्रोंको क्यों अनादि, अनन्त और सम्पूर्ण अभ्रान्त ज्ञान समझते थे, उसकी भी हम कुछ खोज नहीं करते।

और बातें तो दूर रहीं, उपनिषद क्या है, इसे ही हम लोगोंमेंसे बहुत ही थोड़े लोग जानते हैं। उपनिषदोंका प्रसंग चलनेपर हमें प्रायः ही शंकाराचार्यके अद्वैतवाद, रामानुजा-चार्यके विशिष्टाद्वैतवाद और मध्वके द्वैतवाद आदि दार्शनिक व्याख्याताओंकी बातें याद आ जाती हैं। असली उपनिषदोंमें क्या बातें हैं, उनका स्वाभाविक अर्थ क्या है, किस प्रकार पर-स्पर विरोधी छहो दर्शन उस एक मूलसे उत्पन्न हुए हैं, षड-दर्शनोंसे पृथक् कौनसा गूढ़ अर्थ उस ज्ञान-भांडारमें प्राप्त हो सकता है, इन सब बातोंका चिन्तनतक हमलोग कभी नहीं

करते। शंकराचार्य जो अर्थ कर गये हैं, हजारों वर्षोंसे हम उसी अर्थको ग्रहण करते चले आ रहे हैं। शंकराचार्यकी व्याख्याको ही हम अपना वेद अपना उपनिषद मान रहे हैं, कष्ट करके असली उपनिषदोंको कौन पढ़ता है? यदि पढ़ते भी हैं तो अपनी यथार्थ बुद्धिसे नहीं वरन् अन्धभक्ति करके पढ़ते समय शंकराचार्यके विरोधकी कोई भी व्याख्या देखते ही हम उसे भूल कहकर उसका खंडन कर देते हैं, तनिक भी अपनी बुद्धिसे विचार नहीं करते कि यहाँपर वास्तविक बात क्या है। पर स्मरण रखना चाहिये कि उपनिषदोंमें केवल शंकर-लब्ध ज्ञान नहीं है वरन् भूत, वर्त्तमान और भविष्यमें जो आध्यात्मिक ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान लब्ध अर्थात् प्राप्त हुआ है अथवा होगा, उन सभोंको आर्य्यर्षियों और महायोगियोंने अत्यन्त संक्षेपमें निगूढ़ अर्थ-प्रकाशक श्लोकोंमें व्यक्त कर दिये हैं।

उपनिषद् क्या है? जिस अनादि, अनन्त गम्भीरतम ज्ञानमें सनातन-धर्म आरूढ़मूल है, उस ज्ञानका भाण्डार ही उपनिषद् है। वह ज्ञान चारों वेदोंके सूक्तांशोंमें* पाया जाता है, किन्तु वह उपमाच्छलमें स्तोत्रके बाहरी अर्थोंद्वारा इस प्रकार आच्छादित है, जिस प्रकार आदर्शमें मनुष्यकी प्रतिमूर्त्ति। उपनिषद् अनाच्छन्न परम-ज्ञान है और असलमें मनुष्यका अनावृत्त यानी आकार रहित अवयव अर्थात् अंग है। ऋग्वेदके वक्ता महर्षि-

---

* वेदोक्त स्तोत्र मंत्रादिको सूक्त कहते हैं।

योंने ऐश्वरिक प्रेरणासे आध्यात्मिक ज्ञानको शब्दों और छन्दों-में प्रकट किया था। फिर उपनिषद्के ऋषियोंने प्रत्यक्ष दर्शनसे उस ज्ञानका स्वरूप देखकर थोड़े और गम्भीर शब्दोंमें उसी ज्ञानको व्यक्त कर दिया। अद्वैतवाद आदि ही क्यों, उसमें जितने दार्शनिक चिन्तन और वाद भारत, यूरोप और एशिया में उत्पन्न हुए हैं, Nominalism (नोमिनलिज़्म) Realism (रीयलिज़्म) शून्यवाद, डारवियनका क्रमविकाश, कमटका Positivism (पॉज़िटिविज्म) हैगेल, काएट, स्पिनेजा और सोपनहाका, Utilitarianism (युटीलिटरियनिज़्म) Hedonism (हेडोनिज़्म) सभी उपनिषद् रचयिता महर्षि-योंके साक्षात् दर्शनसे दृष्ट और व्यक्त हुए हैं। किन्तु जो दूसरे स्थलपर खंड-रूपसे या थोड़े अंशोंमें दृष्ट हैं, सत्यका अंश-मात्र होते हुए भी सम्पूर्ण सत्यके नामसे प्रचारित हैं, तथा सत्य और मिथ्याको मिलाकर उलटे ढंगसे वर्णित हैं, वेही उपनिषदोंमें विस्तृत-रूपसे, अपने प्रकृत सम्बन्धमें आबद्ध होकर, शुद्ध निर्भ्रान्त भावसे लिपि-बद्ध हैं। अतएव शंकरजी-की व्याख्यामें अथवा और किसीकी भी व्याख्यामें सीमा-बद्ध न होकर उपनिषदोंके असली गम्भीर और अखंड अर्थको ग्रहण करनेमें तत्पर होना ही उचित है, और तभी उपनिषद्-का वास्तविक अर्थ भी जाना जा सकेगा।

उपनिषद्का अर्थ है गूढ़ स्थानोंमें प्रवेश करना। ऋषियों-ने तर्कके बलसे, विद्याके प्रचारसे किंवा प्रेरणाके प्रवाहसे

उपनिषदोंमें वर्णित ज्ञान प्राप्त नहीं किया था, वरन् वे योग-द्वारा जिस गूढ़ स्थानमें समूचे ज्ञानकी कुँजी मनके विनीत कक्षमें झूलती रहती है, उसके पूर्ण अधिकारी होकर उस कक्ष-में प्रवेश करके उस कुँजीको प्राप्तकर अपने अभ्रान्त ज्ञानद्वारा सुविशाल राज्यके राजा हुए थे। वह कुंजी प्राप्त हुए बिना उप-निषदोंका असली अर्थ नहीं खुलता केवल तर्कके बलसे उप-निषदोंका अर्थ करना और सघन वनमें ऊँचे ऊँचे वृक्षोंके नीचे साधारण दीपकके उजालेमें निरीक्षण करना एकसा ही है। साक्षात् दर्शन ही सूर्यलोक है, जिसके द्वारा सारा वन आलो-कित होकर ढूँढ़नेवालेको दिखायी पड़ता है; वह साक्षात् दर्शन योगद्वारा ही प्राप्त होता है।

पुराण

पिछले निबंधमें उपनिषद्का वर्णन एवं उसके असली और सम्पूर्ण अर्थके जाननेकी शैलीका उल्लेख किया जा चुका है। जिस प्रकार उपनिषद् हिन्दू धर्मके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं उसी प्रकार पुराण भी हिन्दूधर्मके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं; श्रुति जिस प्रकार प्रामाणिक है, स्मृति भी उसी प्रकार प्रामाणिक है; किन्तु एक समान नहीं। यदि श्रुति और प्रत्यक्ष प्रमाणके साथ स्मृतिका विरोध हो जाय तो स्मृतिका प्रमाण कदापि ग्रहण करनेके योग्य नहीं हो सकता। योग-सिद्ध महर्षियोंके दिव्य-दृष्टिद्वारा दर्शन करनेके बाद अन्तर्यामी जगद्गुरुने उनकी विशुद्ध बुद्धिको जो कुछ श्रवण कराया, उसीका नाम श्रुति हुआ। प्राचीन ज्ञान और विद्या, जो पुरुष परम्परामें रक्षित होती आ रही है, उसीका नाम स्मृति है। शेषोक्त ज्ञान बहुतोंके मुख और बहुतोंके मनमें परिवर्त्तित और टेढ़ा होता आ सकता है, अवस्थानुसार नये नये मत और प्रयोजनके अनुकूल नया आकार या स्वरूप धारण करता आ सकता है, अतएव स्मृति श्रुतिके समान अभ्रान्त नहीं कही जा सकती।

स्मृति अपौरुषेय नहीं, वरन् मनुष्यके सीमा-बद्ध परिवर्त्तनशील मत और बुद्धिकी सृष्टि है।

पुराण स्मृतियोंमें प्रधान हैं। उपनिषदोंके आध्यात्मिक तत्त्व पुराणोंमें उपन्यास और रूपकके रूपमें परिणत हुए हैं। पुराणोंमें भारतका इतिहास, हिन्दू-धर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि और अभिव्यक्ति, प्राचीन कालकी सामाजिक अवस्था, आचार, पूजा, योग-साधन और चिन्तन करनेकी शैलीके सम्बन्धकी बहुतसी आवश्यक बातें पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और जान लेने योग्य है कि पुराण-रचयिता प्रायः सभी सिद्ध हुए हैं नकि साधक; उनका ज्ञान और साधन-प्राप्त फल दोनों ही उनके रचित पुराणोंमें लिपि-बद्ध हो रहे हैं। वेद और उपनिषद हिन्दू-धर्मके असली ग्रंथ हैं और सब पुराण उन ग्रंथोंकी व्याख्याएं हैं। व्याख्या असली ग्रंथके समान नहीं हो सकती। क्योंकि एक आदमी जो व्याख्या करे, दूसरा आदमी वह व्याख्या नहीं भी कर सकता। किन्तु मूल ग्रंथमें उलट फेर करने या उसको अग्राह्य करनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। जो कथन वेद और उपनिषदोंके समान मिले, वह हिन्दूधर्म-का अंग समझकर ग्रहण करनेके योग्य कदापि नहीं हो सकता। किन्तु जो कथन पुराणोंके साथ न मिले, उसका नवीन चिन्ता-द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होना सम्भव है। व्याख्याका मूल्य, व्याख्याताकी मेधाशक्ति, ज्ञान और विद्याके ऊपर निर्भर है। जैसे, व्यासदेवका बनाया हुआ पुराण यदि विद्यमान होता, तो

उसका आदर प्रायः श्रुतिके समान ही होता; उसके और लोम-हर्षण-रचित पुराणोंके अभावमें जो अठारह पुराण विद्यमान हैं, उनमें सब पुराणोंका समान आदर न करके विष्णु और भागवत पुराणके समान योग-सिद्ध व्यक्तिकी रचनाको अधिक मूल्यवान कहना पड़ता है। मार्कण्डेय पुराणके समान पंडित अध्यात्म-विद्या-परायण लेखककी रचनाको शिव या अग्नि पुराणकी अपेक्षा अधिक गम्भीर ज्ञान-पूर्ण समझना पड़ता है। अतः जबकि व्यासदेवका पुराण आधुनिक पुराणोंमें आदि ग्रंथ है, और इन सबमें जो निकृष्ट है, उससे भी हिन्दू धर्मके तत्त्वको प्रकट करनेवाली बहुतसी बातें निश्चित रूपसे पायी जाती हैं, एवं जब कि निकृष्ट पुराण भी जिज्ञासु या भक्त योगाभ्यासमें लीन रहनेवाले साधककी रचना है, तब रचयिताका अपने प्रयासद्वारा प्राप्त ज्ञान और चिन्ता भी आदरणीय है।

वेदों और उपनिषदोंसे पुराणोंको स्वतंत्र करके वैदिक धर्म और पौराणिक धर्म कहकर अंग्रेजी शिक्षितोंने जो मिथ्या भेद उत्पन्न किया है, वह भ्रम और अज्ञान-सम्भूत है। वेदों और उपनिषदोंकी गूढ़ातिगूढ़ बातोंको सर्वसाधारणको समझानेवाले, व्याख्या करनेवाले, विस्तृत आलोचना करके तथा जीवनके सामान्य कार्योंमें लगनेकी चेष्टा करनेवाले, होनेके कारण अठारहो पुराण हिन्दू-धर्मके प्रमाणमें ग्रहण करनेके योग्य हैं। पर जो लोग वेदों और उपनिषदोंको भूलकर पुराणोंको स्वतंत्र और यथेष्ट प्रमाण समझकर ग्रहण करते हैं, वे लोग भी भूल

करते हैं; क्योंकि इससे हिन्दू-धर्मके अभ्रान्त और अपौरुषेय मूलको बाद दे देनेसे, भ्रम और मिथ्या ज्ञानको आश्रय मिलता, वेदार्थ लोप होता, तथा पुराणोंके असली अर्थपर भी पर्दा पड़ जाता है। वेदोंके आधारपर पुराणोंको स्थापित करके पुराणोंका उपयोग करना चाहिये।

प्राकाम्य

(१)

लोगोंमें जिस समय अष्ट-सिद्धिकी चर्चा होती है, उस समय अलौकिक योग-प्राप्त कई अपूर्व शक्तियोंका स्मरण हो आता है। अवश्य ही आठों सिद्धियोंका पूर्ण विकाश योगियोंको ही होता है, किन्तु ये सारी शक्तियां प्रकृतिके साधारण नियमके वाहर नहीं, वरन् जिसे हम प्रकृतिका नियम कहते हैं, उसीमें आठों सिद्धियोंका समावेश है।

आठ सिद्धियोंके नाम महिमा, लघिमा, अणिमा, प्राकाम्य, व्याप्ति, ऐश्वर्य्य, वशिता और ईशिता हैं। येही सब परमेश्वरके अष्ट-स्वभाव-सिद्ध शक्ति करके परिचित हैं। प्राकाम्यको ही लीजिये—प्राकाम्यका अर्थ सब इंद्रियोंका पूर्ण विकाश और अवाध क्रिया है। वास्तवमें पंच ज्ञानेंद्रिय अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, त्वचा और जिह्वा तथा मनकी सारी क्रियायें प्राकाम्यके अंतर्गत हैं। प्राकाम्यकी शक्तिसे ही आंखसे देखते, कानसे सुनते, नाकसे सूंघते, त्वचासे स्पर्शानुभव करते और जिह्वासे रसास्वादन करते हैं तथा मनसे वाहरी सब स्पर्शोंका ज्ञान होता है। साधारण लोग समझते हैं कि स्थूल इंद्रियोंमें ही ज्ञान

धारण करनेकी शक्ति है; तत्त्ववेत्ता लोग जानते हैं कि आंख नहीं देखती, मन देखता है; कान नहीं सुनता, मन सुनता है; नाक आघ्राण नहीं करती, मन आघ्राण करता है। जो और भी श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी हैं, वे जानते हैं कि मन भी देखता, सुनता और आघ्राण नहीं करता वरन् जीव देखता, सुनता और आघ्राण करता है। जीव ही ज्ञाता है; जीव ईश्वर है; भगवानका अंश है। भगवानकी अष्ट-सिद्धि जीवकी भी अष्ट-सिद्धि है।

ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनंच रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

हमारा सनातन अंश जीव लोकमें जीव होकर मन और पंचमेन्द्रियोंको प्रकृतिके मध्यमें पाकर उसे आकर्षित करता है (अपने उपभोगमें लगाकर और भोगके लिये आयोजन करता है)। जिस समय जीव-रूपी ईश्वर शरीर प्राप्त करता है अथवा शरीरसे निर्गमन या पयान करता है, उस समय, जिस प्रकार हवा सुगंधिको पुष्पमेंसे उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार यह जीव शरीरसे सब इंद्रियों (मन और पांच इंद्रियों) को ले जाता है; कान, आंख, स्पर्श, जीभ, नाक और मनमें ठहरकर यह (जीव) विषयोंका भोग करता है। देखना, सुनना, सूंघना,

स्वाद लेना, छूना और मनन करना ये सब प्राकाम्यकी क्रियायें हैं। भगवानका सनातन अंश जीव इस प्रकृतिकी क्रियाको लेकर प्रकृतिके विकारसे पंचेन्द्रिय और मन सूक्ष्म-शरीरमें विकाश करता है; स्थूल-शरीर धारण करनेके समय यह जीव षडिन्द्रिय यानी मन और पांच इंद्रियां लेकर प्रवेश करता और मृत्युकाल-में यह षडिन्द्रियोंको लेकर निकल जाता है। चाहे स्थूल देह हो अथवा सूक्ष्म, वह जीव इन षडिन्द्रियोंमें निवास करके सब विषयोंका भोग करता है।

कारण-शरीरमें सम्पूर्ण प्राकाम्य है, वह शक्ति सूक्ष्म-शरीरमें विकाश प्राप्त करती है, पश्चात् स्थूल-शरीरमें विकसित होती है। किन्तु प्रथमहीसे स्थूलमें सम्पूर्ण प्रकाश नहीं होता, जगत्के क्रम-विकाशमें सब इन्द्रियाँ क्रमसे विकसित होती हैं, अंतमें कई एक पशुओंमें मनुष्यका उपयोगी विकाश और प्राखर्य्य प्राप्त करती हैं। मनुष्यमें पंचेंद्रियाँ अल्प निस्तेज होकर रहती हैं, कारण यह कि हमलोग मन और बुद्धिका विकास करनेमें अधिक शक्तिका प्रयोग करते हैं। किन्तु यह असम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्राकाम्य विकाशकी अंतिम अवस्था नहीं। योगद्वारा सूक्ष्म-शरीरमें जितना प्राकाम्य-विकाश होता है, वह स्थूल शरीरमें भी प्रकाश पाता है। इसीको योग-प्राप्त प्राकाम्य सिद्धि कहते हैं।

(२)

परमेश्वर अनन्त और अपरिसीम पराक्रमी हैं, उनकी स्व-भावसिद्ध शक्तिका क्षेत्र भी अनन्त और क्रिया अपरिसीम है।

जीव ईश्वर है, भगवानका अंश है, सूक्ष्म शरीर* और स्थूल-शरीरमें आबद्ध होकर धीरे धीरे ऐश्वरिक शक्तिका विकाश कर रहा है। स्थूल शरीरकी सब इंद्रियाँ विशेषतः सीमाबद्ध हैं।

१—तीन शरीर हैं; स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

स्थूल-शरीर—पंचीकृत पंचमहाभूतके पचीस तत्त्वोंसे बने हुए शरीरको स्थूल-शरीर कहते हैं। जिस रूपमें हम, आप तथा और सब जीव दिखायी पड़ रहे हैं, उसी रूपका नाम स्थूल शरीर है। इसमें दश इंद्रियाँ है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुद ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ।

सूक्ष्म शरीर—अपंचीकृत पंच महाभूतके सत्रह तत्त्वोंसे बने हुए शरीरको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। उन सत्रह तत्त्वोंमें पाँच तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) तथा मन और बुद्धि।

कारण शरीर—मनुष्य जब सोकर उठता है, तब कहता है कि 'आज मैं ऐसा सोया कि, कुछ भी नहीं जानता' इससे यह सिद्ध होता है कि सोनेमें अज्ञान है। सोनेवालेका 'मैं कुछ भी नहीं जानता' यह ज्ञान अनुभव रूप नहीं वरन् सुषुप्तिकालमें अनुभव किये अज्ञानकी स्मृति है। उस स्मृतिका विषय सुषुप्तिकालका अज्ञान है। जाग्रतावस्थामें भी मुझे अपनी वास्तविक सुध कुछ भी नहीं रहती। मनुष्य कहता है कि, 'मैं यह नहीं जानता'। 'मैं यह नहीं जानता' इस अनुभवका विषय भी अज्ञान है। स्वप्नका कारण भी निद्रारूप अज्ञान है। बस इस अज्ञानको ही कारण-शरीर या कारण-देह कहते हैं। तत्व-ज्ञानसे इस अज्ञानका दाह किया जाता है, इसलिये इसे 'देह' कहते हैं। अज्ञान, स्थूल-देह और सूक्ष्म-देह-का कारण है, इसलिये अज्ञानको कारण कहते हैं। सारांश यह कि अज्ञानका नाम ही कारण-देह है।

मनुष्य जितने दिनोंतक स्थूल-देहको शक्तिद्वारा जकड़ा हुआ रहता है, उतने दिनोंतक बुद्धिके विकाशसे ही वह पशु-की अपेक्षा उत्कृष्ट है; नहीं तो इंद्रियोंकी प्रखरता एवं मनकी अभ्रान्त क्रियासे—एक बातमें प्राकाम्य सिद्धिसे—पशु ही उत्कृष्ट है। इसी प्राकाम्यको विज्ञानवेत्ता लोग Instinct (पशु-बुद्धि) कहते हैं। पशुओंमें बुद्धिका विकाश बहुत ही कम होता है। किन्तु संसारमें बचकर रहनेकी आवश्यकता है, इसलिये बुद्धि अत्यल्प होनेके कारण पशुओंको किसी ऐसी वृत्तिकी आवश्यकता है जो पथ दिखानेवाली होकर क्या ग्रहण करनेके योग्य है और क्या त्याग करनेके योग्य है—आदि बातों-का ज्ञान करावे। इसीसे ईश्वरने पशुओंके मनको यही शक्ति प्रदान की है। पशुओंका मनही यह सब काम करता है। मनु-ष्योंका मन कुछ निर्णय नहीं करता, बुद्धिही निश्चय करनेवाली है, मन तो केवल संस्कार-सृष्टिका यंत्र है। हम जो कुछ देखते, सुनते और समझते हैं, वह सब मनमें संस्कार रूपसे परिणत होता जाता है; बुद्धि उस संस्कारको लेकर ग्रहण करती, प्रत्याख्यान करती और चिन्तन करती है। पशुओंकी बुद्धि इस निर्णय कर्ममें अपारग यानी असमर्थ है। पशु अपनी बुद्धि-द्वारा नहीं बल्कि मनद्वारा समझता और चिन्तन करता है।

मनकी एक अद्भुत शक्ति है, दूसरेके मनमें जो कुछ होता है, उसे क्षणभरमें ही मन समझ जाता है; बिना विचार किये ही जो कुछ आवश्यक होता है, वह सब समझ लेता एवं काम-

की उपयुक्त प्रणाली ठीक करता है। हम किसीको भी घरमें घुसते देखते नहीं, किन्तु समझ जाते हैं कि कौन घरमें छिपा हुआ है ; भयका कोई कारण उपस्थित नहीं होता, पर हम आशंकित हो जाते हैं, और शीघ्र ही उस आशंकाका कारण ढूँढ़ निकालते हैं; भाई अपने मुँहसे एक बात भी नहीं कहता, किन्तु उसके बोलनेके पहले ही वह क्या कहेगा, उसे हम समझ लेते हैं, इत्यादि बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु बुद्धिकी सहायतासे सारा काम करनेमें हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि यह क्रिया और प्राकाम्य हम लोगोंमें प्रायः लोप सा हो गया है। किन्तु पशु यदि इस प्राकाम्यको अपने वशमें न रखे, तो वह दोही दिनमें मर जाय। क्या पथ्य है, क्या अपथ्य है, कौन मित्र है, कौन शत्रु है, कहां भय है, कहां निरापद है आदि बातोंका ज्ञान पशुओंको प्राकाम्यद्वारा ही होता है। इसी प्राकाम्यद्वारा कुत्ते अपने स्वामियोंकी भाषा न समझते हुए भी उनकी बातोंका असली मतलब या मनका भाव समझते हैं, घोड़े भी इसी प्राकाम्यकी शक्तिसे एकबार जिस मार्गसे चले जाते हैं, उस मार्गको पहचान लेते हैं। ये सब प्राकाम्य क्रियायें मनकी हैं।

पंचेन्द्रियोंकी शक्तिसे भी पशु मनुष्यको हरा देता है। कौन मनुष्य कुत्तेकी तरह गंधका अनुसरणकर एक सौ मीलकी दूरीसे और सबका मार्ग छोड़कर एक जन-विशिष्ट जानवरोंसे अपनी रक्षा करता हुआ अपने स्थानपर वापस आ सकता

है ? या ऐसा कौन मनुष्य है जो अन्धकारमें पशुओंके समान देख सकता है ? अथवा केवल शब्द सुनकर अपने कानोंद्वारा गुप्त शब्द करनेवालेको प्रकट ही कौन मनुष्य कर सकता है ? Telepathy या दूरसे चिन्ता ग्रहण सिद्धिकी बात कहकर किसी अंग्रेजी सम्वाद-पत्र (अखबार) ने कहा है कि, Telepathy मनकी प्रक्रिया है; यह प्रक्रिया पशुकी सिद्धि है, मनुष्यकी नहीं; अतएव Telepathy के विकाशसे मनुष्यकी उन्नति न होकर अवनति ही होगी। स्थूल बुद्धि वृटेनका अवश्य ही यह तर्क उपयुक्त है ! अवश्य ही मनुष्य जो बुद्धि-विकाश के लिये अपनी ग्यारह इंद्रियोंके सम्पूर्ण विकाशसे पराङ्मुख (विमुख) हो रहा है, वह अच्छा हो रहा है, नहीं तो प्रयोजनाभावसे उसकी बुद्धिका विकाश इतने शीघ्र न होता। किन्तु जिस समय सम्पूर्ण बुद्धि-विकाश हो जाता है, उस समय ग्यारह इंद्रियोंका पूर्ण विकाश करना मानव जातिका कर्त्तव्य है। क्योंकि इससे बुद्धिके विचार करने योग्य ज्ञानकी वृद्धि होगी, और मनुष्य भी मन एवं बुद्धिके पूर्ण अनुशीलनसे अन्तर्निहित देवत्त्व प्रकाशका उपयुक्त पात्र होगा। किसी भी शक्तिका विकाश अवनतिका कारण कदापि नहीं हो सकता—केवल शक्तिके अवैध प्रयोगसे, मिथ्या व्यवहारसे और असामञ्जस्य दोषसे अवनति सम्भव है, अन्यथा नहीं।

विश्वरूप दर्शन

गीतामें विश्वरूप
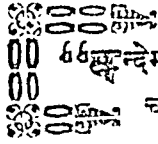
"वन्देमातरम्" शीर्षक लेखमें हमारे श्रद्धेय बन्धु विपिन चन्द्र पालने प्रसंगानुसार अर्जुनके विश्वरूप दर्शनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि, गीताके ग्यारहवें अध्यायमें, जो विश्वरूप दर्शनका वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण असत्य और कविकी कल्पना मात्र है। हम इस बातका प्रतिवाद करनेके लिये बाध्य हैं। विश्वरूप दर्शन गीताका बहुत ही प्रयोजनीय अंग है, अर्जुनके मनमें जो द्विधा और संदेह उत्पन्न हुआ था, उसका श्रीकृष्णने तर्क और ज्ञान-गर्भित उक्तिद्वारा प्रत्याख्यान किया है। किन्तु तर्क और उपदेशद्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह दृढ़तासे नहीं टिकता। जिस ज्ञानकी यथार्थ रीतिसे प्राप्ति होती है, उसी ज्ञानकी दृढ़ स्थापना होती है। इसीलिये अर्जुनने अंतर्यामीकी अलक्षित प्रेरणासे विश्वरूप दर्शनकी आकांक्षा प्रकट की। विश्वरूप दर्शनसे अर्जुनका संदेह चिरकालके लिये दूर हो गया और बुद्धि निर्मल होकर गीताके परम रहस्यको ग्रहण करनेके योग्य हुई। विश्वरूप दर्शनके

पहले गीतामें जो ज्ञान कथित हुआ है, वह साधकके उपयोगी ज्ञानका बहिरंग है, उस रूप दर्शनके पश्चात् जो ज्ञान कथित हुआ है, वह ज्ञान गूढ़ सत्य, परम रहस्यमय सनातन शिक्षा है। इस विश्वरूप दर्शनके वर्णनको कविकी उपमा कहनेसे गीताका गाम्भीर्य्य और सत्यत्त्व दोनों ही नष्ट हो जाता है, और उसकी योग-प्राप्त उच्चाति उच्च शिक्षा दार्शनिक और कविकी कल्पनाके समावेशमें परिणत हो जाती है। विश्वरूप दर्शन न तो कल्पना ही है, और न उपमा ही है; यह सत्य है, अति प्राकृत सत्य नहीं,—क्यों नहीं? इसलिये कि विश्व प्रकृतिके अंतर्गत विश्वरूप अति प्राकृत नहीं हो सकता। विश्वरूप कारण-जगत्का सत्य है; कारण-जगत्का रूप दिव्य चक्षुओंसे दिखायी पड़ता है। दिव्य दृष्टि प्राप्त अर्जुनने कारण-जगत्का विश्वरूप देखा था।

साकार और निराकार

जो लोग निर्गुण निराकार ब्रह्मके उपासक हैं, वे शरीर और आकारकी बात रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं; जो लोग सगुण निराकार ब्रह्मके उपासक हैं, वे शास्त्रकी अन्य रूपसे व्याख्या करके निर्गुणत्त्व अस्वीकार करते एवं आकारकी बात रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं; इसी तरह सगुण साकार ब्रह्मके उपासक दोनोंहीके ऊपर खड्ग-हस्त हैं। पर मैं इन तीनों मतोंको ही संकीर्ण और असम्पूर्ण ज्ञानसे उत्पन्न हुआ

समझता हूँ। क्योंकि जो लोग साकार और निराकार, दोनों प्रकारसे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, वे किस तरह एकको सत्य और दूसरेको असत्य कल्पना कहकर ज्ञानका अंतिम स्मरण नष्ट करेंगे, एवं असीम ब्रह्मको सीमा-बद्ध करेंगे? यदि ब्रह्मका निर्गुणत्व और सगुणत्व अस्वीकार करते हैं, तो हम भगवानका उपहास करते हैं, यह बात सत्य है; किन्तु यदि ब्रह्मका सगुणत्व और साकारत्व अस्वीकार करते हैं, तो भी हम भगवानका उपहास करते हैं, यह बात भी सत्य है। भगवान रूपके कर्त्ता, स्रष्टा और अधीश्वर हैं, वह किसी रूपमें आवद्ध नहीं; भगवान जिस प्रकार साकारत्वद्वारा आवद्ध नहीं हैं, उसी प्रकार निराकारत्वद्वारा भी आवद्ध नहीं हैं। भगवान सर्वशक्तिमान हैं। स्थूल प्रकृतिके नियम अथवा देशकालके नियम रूप जालमें उनको फँसानेके अभिप्रायसे यदि हम कहें कि तुम जब अनन्त हो, तो हम तुमको अन्तवाला नहीं होने देंगे, चेष्टा करके देखते हैं, तुम नहीं देख सकोगे, तुम हमारे अकाट्य तर्क और युक्तिसे इस प्रकारसे आवद्ध हो, जिस प्रकार प्रस्पेरोके इन्द्रजालमें फर्डीनेण्डो,—यह हास्यजनक बात है। वास्तवमें यह कैसा घोर अहंकार और अज्ञान है!

भगवान वन्धन रहित, निराकार और साकार हैं, साधकको साकार होकर दर्शन देते हैं,—उसी आकारमें पूर्ण भगवान रहते भी हैं, या यों कहिये कि भगवान हर समयमें ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त करके रहते हैं। भगवान देशकालसे

अलग और अतर्क-गम्य हैं; देश और काल उनके कौतूहलकी सामग्री है, देश और काल रूपी जालमें सब प्राणियोंको रखकर क्रीड़ा करते हैं, किन्तु हमलोग उन्हें उस जालमें फँसा नहीं सकते। जितनी ही बार हम तर्क और दार्शनिक युक्तिका प्रयोग करके वह असाध्य साधन करते जाते हैं, उतनी ही बार भगवान रंगमय उस जालको समेटकर हमारे आगे पीछे, पार्श्व (समीप) दूर चारों ओर मीठी मीठी हंसीसे विश्वरूप और विश्वातीत रूप प्रसार करके हमारी बुद्धिको परास्त करते हैं। जो लोग कहते हैं कि हम भगवानको जान गये, वे भगवान-को तनिक भी नहीं जानते; जिन लोगोंको जान ही नहीं पड़ता, वे ही प्रकृत ज्ञानी हैं। *

विश्वरूप

जो लोग शक्तिके उपासक, कर्मयोगी, यंत्रीके यंत्र होकर भगवानके निर्दिष्ट किये हुए कार्योंको करनेमें आदिष्ट या तत्पर हैं, उनकी विश्वरूप दृष्टिमें दर्शन बहुत ही प्रयोजनीय है। विश्वरूप दर्शनके पहले भी वे प्राप्त कर सकते हैं, किंतु वह

---

* 'अविज्ञातं विजानता विज्ञात मविजानताम्' (केन०)—अर्थात् जो कहते हैं कि हमें परब्रह्मका ज्ञान हो गया, उन्हें उसका ज्ञान नहीं हुआ है; और जिन्हें जान ही नहीं पड़ता कि हमने उसको जान लिया, उन्हें ही वह ज्ञान हुआ है। उपनिषद्के इस अवतरणसे ऊपरके वाक्यका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

दर्शन-लाभ न हो जानेतक आदेश ठीक स्वीकार नहीं होगा। रुजू या मौजूद तो हो जाता है, पर पाश (कर्णस्पर्श) नहीं होता। तबतक उनकी कर्मशिक्षा या तैयारी होनेका समय रहता है। विश्वरूप दर्शनमें कर्मका आरम्भ है। विश्वरूप दर्शन बहुत तरहसे हो सकता है—जैसी साधना और जैसा साधकका स्वभाव हो। कालीजीके विश्वरूप दर्शनके साधक जगतमय अप-रूप यानी विकृतरूप स्त्रीरूप देखते हैं। एक अथवा अनन्त देहयुक्त सब जगह वह सघनान्धकार-प्रस्तारक घनकृष्ण कुन्तलराशि आकाशाच्छादित रहती हैं, सर्वत्र वह रक्ताक्त खड्गकी आभा झलकाकर नृत्य करती हैं, जगतमय उस भीषण अट्टहासका स्रोत विश्वब्रह्मांडको बहाकर चूर्ण विचूर्ण करता है। यह सब कथन कविकी कल्पना नहीं, अति प्राकृत उपलब्धिको असम्पूर्ण मनुष्यकी भाषामें वर्णन करनेकी विफल चेष्टा नहीं! यह कालीका आत्म-प्रकाश है, यह हमारी मातेश्वरीका प्रकृत रूप है। जो कुछ दिव्य चक्षुद्वारा देखा गया है, उसीका अनति-रंजित सरल और सत्य वर्णन है। अर्जुनने कालीका विश्वरूप नहीं देखा था, उन्होंने कालरूपी श्रीकृष्णका संहारक विश्वरूप देखा था। दोनों एकही बात है। उन्होंने दिव्य चक्षुसे देखा था, बाह्यज्ञान हीन समाधिसे नहीं—जो देखा, व्यासदेवने उसका अविकल अनतिरंजित वर्णन किया। यह स्वप्न नहीं, कल्पना नहीं, सत्य और जाग्रत सत्य है।

कारण-जगत्‌का रूप

भगवान-अधिष्ठित तीन अवस्थाओंकी बात शास्त्रोंमें पायी जाती है,—प्राज्ञ-अधिष्ठित सुषुप्ति, तैजस या हिरण्यगर्भ-अधिष्ठित स्वप्न और विराट् अधिष्ठित जगत्। प्रत्येक अवस्था एक एक जगत् है। सुषुप्तिसे कारण-जगत्, स्वप्नसे सूक्ष्म-जगत् और जाग्रतसे स्थूल-जगत् है। कारणमें जो निर्णीत और हमारे देश कालसे परे है, सूक्ष्ममें वह प्रतिभासित और स्थूलमें आंशिक भावसे स्थूल-जगत्‌के नियमानुसार अभिनीत होता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि मैं धार्त्तराष्ट्रों (धृतराष्ट्र पुत्रों) का पहले ही वध कर चुका हूँ, किन्तु स्थूल-जगत्‌में उस समय दुर्योधनादि युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके सामने दंडायमान, जीवित और युद्धमें व्यापृत यानी युद्धके व्यापार करके युक्त थे। पर भगवान श्रीकृष्णका यह कथन असत्य और उपमा युक्त नहीं। कारण-जगत्‌में वे उनलोगोंका वध कर चुके थे। यदि नहीं, तो इस लोकमें उनका वध असंभव था। हमारा प्रकृत-जीवन कारणमें है, स्थूलमें तो उसकी छाया मात्र पड़ती है। किन्तु कारण-जगत्‌का नियम, देश, काल, रूप और नाम स्वतंत्र है। विश्वरूप कारणका रूप है, और वह स्थूलमें दिव्य चक्षुसे प्रकाशित होता है।

दिव्य चक्षु

दिव्य चक्षु क्या है? दिव्य चक्षु कल्पनाका चक्षु नहीं, और न कविकी उपमा ही है। योग-प्राप्त दृष्टि तीन प्रकारकी है—सूक्ष्म-दृष्टि विज्ञान-चक्षु और दिव्य-चक्षु। सूक्ष्म-दृष्टिसे हम स्वप्नमें जाग्रदवस्थामें मानसिक मूर्ति देखते, विज्ञानचक्षुसे हम समाधिस्थ होकर सूक्ष्म-जगत् और कारण-जगत्के अंतर्गत नाम रूपकी प्रतिमूर्ति और सांकेतिक रूप चित्ताकाशमें देखते तथा दिव्य चक्षुसे कारण-जगत्का नाम रूप प्राप्त करते हैं,—समाधिसे भी प्राप्त करते, स्थूल चक्षुके सामने भी देख पाते हैं। जो स्थूल इन्द्रियोंका अगोचर है, वह यदि इंद्रिय गोचर होता है, तो उसको दिव्य चक्षुका प्रभाव मानना पड़ता है। अर्जुन दिव्य चक्षुके प्रभावसे जाग्रदवस्थामें भगवानका कारणान्तर्गत विश्वरूप देखकर संदेह-मुक्त हुए थे। वह विश्वरूप दर्शन स्थूल-जगत्का इंद्रियगोचर सत्य न होकर, स्थूल सत्यको अपेक्षा सत्य कल्पना है, असत्य या उपमा नहीं।

स्तवस्तोत्र
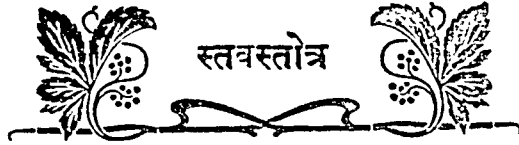
साधक, साधन और साध्य, इन्हीं तीनों अंगोंको लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। साधकोंके भिन्न भिन्न स्वभावमें भिन्न भिन्न साधन आदिष्ट एवं भिन्न भिन्न साध्य भी अनुसृत होते हैं। किन्तु स्थूल दृष्टिसे अनेकों साध्य होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि सब साधकोंका साध्य एक है और वह साध्य आत्मतुष्टि है। याज्ञवल्क्यने अपनी सहधर्मिणीको समझाया है कि आत्माके लिये ही स्त्री, धन, प्रेम, सुख, दुःख, जीवन और मरण सब कुछ है, इसलिये आत्मा क्या है, इस प्रश्नका गुरुत्व है और इसीकी प्रयोजनीयता भी है।

अनेकों विज्ञ और पंडित कहते हैं कि, आत्म-ज्ञानका पचड़ा लेकर इतना व्यर्थ माथा किस लिये मारें? यह सब सूक्ष्म विचारमें समय नष्ट करनेकी वातुलता है, संसारका प्रयोजनीय विषय और मानव-जाति कल्याणकी चेष्टा लेकर रहना चाहिये। किन्तु संसारका कौनसा विषय प्रयोजनीय है, एवं मानव-जातिका कल्याण किससे होगा, इस प्रश्नकी भी तो मीमांसा ज्ञानहीके ऊपर निर्भर करती है। हमारे ज्ञानके

अनुसार ही हमारा साध्य होता है। हम यदि अपने शरीरको आत्मा समझें, तो हम तुष्टि साधनार्थ और सब विचार तथा विवेचनाको जलाञ्जलि दे स्वार्थपर नर-पिशाच होकर रहेंगे। यदि स्त्रीको ही आत्मवत् देखें और आत्मवत् प्रेम करें, तो हम स्त्रैन (स्त्री स्वभाव) होकर न्याय और अन्यायका विचार न करके उसकी मनस्तुष्टिके सम्पादनके लिये प्राणपनसे चेष्टा करेंगे, दूसरेको कष्ट देकर भी उसको सुख पहुँचायेंगे, दूसरेका अनिष्ट करके उसीका इष्ट सिद्ध करेंगे। यदि हम देशको ही आत्मवत् देखें, तो निश्चय ही हम एक महान् देश हितैषी पुरुष होंगे, कदाचित् इतिहासमें अक्षयकीर्ति भी रख जायँगे, किन्तु अन्यान्य धर्म्म परित्याग करके दूसरे देशोंका अनिष्ट, धन लुंटन, और स्वाधीनताका अपहरण कर सकते हैं। यदि भगवानको आत्मा समझें अथवा आत्मवत् प्रेम करें—एक ही बात है, क्योंकि प्रेम चरम दृष्टि हुई तो—हम भक्त, योगी और निष्काम कर्म्मी होकर साधारण मनुष्यकी अप्राप्य शक्ति ज्ञान अथवा आनन्दोपभोग कर सकते हैं। यदि निर्गुण परब्रह्मको आत्मा कहकर जानें, तो परम शांति और लयको प्राप्त हो सकते हैं। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह उसी रूपका हो जाता है। मानव-जाति चिरकालसे साधन करती आ रही है, प्रथम क्षुद्र, फिर अपेक्षाकृत महान् और अंततः सर्वोच्च परात्पर यानी श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ साध्यका साधन करके गंतव्य स्थान श्रीहरिके परम धामको प्राप्त होती

चली आ रही है। एक युग था, कि मानव-जाति केवल शरीरका साधन करती थी। शरीर-साधन उस समयका युग-धर्म था: अन्यान्य धर्मोंको किनारे रखकर उस समय शरीर-साधन करनाही श्रेयस्कर मार्ग था। कारण यह कि, उसके न होनेसे शरीर, जो शरीर धर्म साधनका उपाय और प्रतिष्ठा है,—उत्कर्ष लाभ न करता। इसी प्रकार एक युगमें स्त्री और घरबार, एक युगमें कुल और एक युगमें—जैसे आधुनिक युगमें जाति ही साध्य है। सर्वोच्च परात्पर यानी श्रेष्ठसे श्रेष्ठ साध्य परमेश्वर, भगवान हैं। भगवान ही सबके प्रकृत और परमात्मा हैं, अतएव प्रकृत भी परम साध्य हैं। इसीसे गीतामें लिखा है कि, 'सर्व धर्मका परित्याग करके हमारा ही स्मरण करो। भगवानमें सब धर्मोंका समन्वय होता है। उनका साधन करनेसे वे स्वयं ही हमारे भारको लेकर हमें यन्त्र करके स्त्री, परिवार, कुल, जाति, मानव सृष्टिकी परम तुष्टि और परम कल्याण साधन करेंगे।

एक ही साध्यका साधक लोग अपने अपने स्वभावानुसार भिन्न भिन्न तरहसे साधन भी करते हैं। भगवानके साधनका भी एक प्रधान उपाय है स्तवस्तोत्र। पर यह सबका उपयोगी साधन नहीं। ज्ञानीके लिये ध्यान और समाधि तथा कर्मीके लिये कर्म समर्पणही श्रेष्ठ उपाय है। स्तवस्तोत्र भक्तिका अंग है—अवश्य-ही श्रेष्ठ अंग नहीं है; क्योंकि अकारण प्रेम भक्तिका चरम उत्कर्ष है। वही अकारण प्रेम भगवानके स्वरूपको

स्तवस्तोत्रद्वारा आयत्त करनेके पश्चात् स्तवस्तोत्रकी प्रयोज-नीयता अतिक्रम करके उसी स्वरूपके योगमें लीन हो जाता है; फिर भी इस प्रकारके भक्त नहीं हैं कि स्तवस्तोत्र न करके भी रह सकें। जिस समय और साधनोंकी आवश्यकता न हो, उस समय भी स्तवस्तोत्रमें प्राणका उल्लास उछल पड़ता है। केवल स्मरण करना होता है कि साधन, साध्य नहीं; हमारा जो साधन है, दूसरेका वह साधन नहीं भी हो सकता। बहुतसे भक्तोंकी यही धारणा देखी जाती है कि, जो लोग भगवानका स्तवस्तोत्र नहीं करते, स्तवस्तोत्रका श्रवणकरनेमें आनन्द प्रकाश नहीं करते, वे धार्मिक नहीं हैं। किन्तु यह कथन भ्रान्ति और संकीर्णताका लक्षण है। उदाहरणार्थ बुद्धदेव स्तवस्तोत्र नहीं करते थे, तथापि कौन बुद्धको अधार्मिक कह सकेगा? साधन करनेके लिये भक्तिमार्ग स्तवस्तोत्रकी सृष्टि है।

भक्त अनेक तरहके हैं, तदनुसार स्तवस्तोत्रका प्रयोग भी अनेक तरहका होता है। आर्त भक्त दुःखके समयमें भगवानके समीप भयके लिये, सहायताकी प्रार्थनाके लिये, उद्धारकी आशासे स्तवस्तोत्र करते हैं, और अर्थार्थी यानी अर्थकी इच्छा रखनेवाले भक्त किसी भी अर्थ-सिद्धिकी आशासे, धन, मान, सुख, ऐश्वर्य्य, जय, कल्याण, भुक्ति, मुक्ति, इत्यादि उद्देश्यसे संकल्प करके स्तवस्तोत्र करते हैं। इस श्रेणीके भक्त अनेकों वार भगवानको प्रलोभन दिखाकर संतुष्ट करना चाहते हैं। कितनेही लोग मनोकामना पूर्ण न होनेपर ईश्वरके ऊपर रूठ जाते हैं,

तथा उनको निष्ठुर प्रवंधक आदि अपशब्दोंसे विभूषित करके कहते हैं कि, अब ईश्वराराधन कभी न करूंगा, उनका मुख नहीं देखूँगा, किसी तरह मन, वच, कर्म अथवा ध्यान-पूजा आदिसे नहीं मानूँगा। बहुतसे लोग हताश होकर नास्तिक हो जाते हैं और यह निश्चय कर लेते हैं कि, यह संसार दुःख, अन्याय, और अत्याचारका राज्य है, ईश्वर कुछ नहीं है, उसको मानना व्यर्थ है। पर यह दोनों तरहकी भक्ति, अज्ञभक्ति है। ऐसा कहकर ईश्वरकी भक्ति उपेक्षणीय नहीं; क्योंकि अभीष्ट-सिद्धि न होनेसे हताश होकर अनर्गल विचारोंका निश्चय नहीं करना चाहिये वरन् ईश्वरमें दृढ़ भरोसा रखकर अपने कर्म-पथपर दृढ़ रहना चाहिये। क्योंकि यह निश्चय है कि क्षुद्र ही महान होता है। ईश्वरके अकृपापात्र उपासक ही किसी दिन उनके कृपाभाजन बनते हैं। अविद्या साधन विद्याकी प्रथम सीढ़ी है। देखिये, बालक भी अज्ञ है, किन्तु उसकी अज्ञतामें एक प्रकारका विचित्र माधुर्य्य है। बालक भी माताके समीप रोता, दुःखका प्रतिकार चाहता, अनेक प्रकारके सुख और स्वार्थके लिये भाग जाता, हठ करता फिर भी न मिलनेसे वह रूठ जाता और दौरात्म्य करता है यानी उसके हृदयमें अनेक प्रकारके कुभाव पैदा होने लगते हैं पर मा उसे फुसलाती ही रहती है। ठीक यही हाल जगज्जननीका है। जगज्जननी भी प्रसन्न मुखसे अज्ञ भक्तका सारा कटुवाक्य और दौरात्म्य सहन करती हैं।

जिज्ञासु यानी जाननेकी इच्छा रखनेवाले भक्त किसी अर्थ-

सिद्धि अथवा भगवानको संतुष्ट करनेके लिये स्तवस्तोत्र नहीं करते। वे तो स्तवस्तोत्रको शुद्ध भगवानके स्वरूपको प्राप्त करने एवं आत्मीय भाव-पुष्टिका उपाय मात्र ही मानते हैं। ज्ञानी भक्तोंमें यह प्रयोजन भी नहीं रहता, क्योंकि उन्हें उनका स्वरूप प्राप्त हुआ रहता है, उनका भाव सुदृढ़ और सुप्रतिष्ठित होता है, केवल भावोच्छ्वासके लिये स्तवस्तोत्रका प्रयोजन है। गीतामें कहा है कि, ये चार श्रेणीके भक्त सभी उदार हैं, कोई भी उपेक्षणीय नहीं। सब भगवानको प्रिय हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त सबसे अधिक; कारण यह कि ज्ञानी और भगवान एकात्म हैं। भगवान भक्तों-के साध्य अर्थात् आत्म-रूपमें ज्ञातव्य और प्राप्य हैं। ज्ञानी भक्तमें भी भगवानमें आत्मा और परमात्माका सम्बन्ध होता है। ज्ञान, प्रेम और कर्म, इन्हीं तीनों सूत्रोंमें आत्मा और परमात्मा परस्पर आबद्ध हैं। जो कर्म है वह भगवद्दत्त है, उसमें कोई प्रयोजन या स्वार्थ नहीं, प्रार्थनीय कुछ भी नहीं है। जो प्रेम है, वह कलह और अभिमानशून्य—निःस्वार्थ, निष्कलंक और निर्मल है; जो ज्ञान है वह शुष्क और भाव-रहित नहीं, वरन् गम्भीर, तीव्र आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण है। साध्यके एक होनेसे भी जैसे साधक होते हैं, वैसे ही साधन, और वैसे ही भिन्न भिन्न साधकके एकही साधनके पृथक् पृथक् प्रयोग हैं।
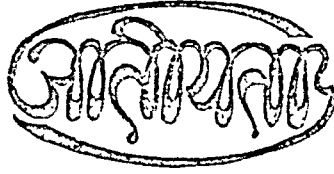
नवजन्म

गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह जाननेकी इच्छा प्रकट की कि, "जो लोग योग-पथमें प्रवेश करके शेष पर्य्यन्त पहुँचते न पहुँचते स्खलित-पद और योगभ्रष्ट हो जाते हैं, उनकी क्या गति होती है ? क्या वे ऐहिक और पारलौकिक दोनोंके फलोंसे वंचित हो वायु-खंडित बादलकी भांति विनष्ट हो जाते हैं ?" भगवान श्रीकृष्णने कहा, "इस लोकमें अथवा परलोकमें इस प्रकारके व्यक्तिका नाश असम्भव है। उत्तम कार्य्यके

करनेवाले कहीं भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते। समस्त पुण्य-लोकमें उनकी गति होती है, वहाँपर दीर्घकालतक वास करके पवित्र और धनाढ्य गृहमें अथवा किसी ऐसे योगयुक्त महा-पुरुषके कुलमें जन्म होता है, जिस कुलमें जन्म होना लोगोंको दुर्लभ होता है। फिर वे उस जन्ममें पूर्व जन्म-प्राप्त योग-ज्ञानद्वारा चालित होकर योगसिद्धिके लिये चेष्टा करते हैं और अंतमें वे अनेक जन्मके अभ्याससे पापमुक्त होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं।" जो पूर्वजन्मवाद चिरकालसे आर्य-धर्मके योग-प्राप्त ज्ञानका अंग-विशेष है, पाश्चात्य विद्याके प्रभावसे शिक्षित समुदायमें उसकी प्रवृत्ति प्रायः नष्टसी हो गयी थी: श्रीरामकृष्ण लीलासे न्यारे वेदान्त-शिक्षाके प्रचार और गीताके अध्ययनमें वह सत्य अब फिर स्थापित हो रहा है। स्थूल-जगत्में जिस प्रकार Heredity (पैत्रिक) प्रधान सत्य है, सूक्ष्म-जगत्में उसी प्रकार पूर्वजन्मवाद प्रधान सत्य है। श्रीकृष्णकी उक्तिसे ये ही दो सत्य स्थापित हैं। योग-भ्रष्ट पुरुष अपने पूर्वजन्म-प्राप्त ज्ञानके संस्कारसे जन्म ग्रहण करते हैं और उसी संस्कारद्वारा हवाके झोंकेसे चलनेवाली नौकाकी भांति योग-पथमें प्रवृत्त होते हैं। किंतु कर्मके फलकी प्राप्तिके योग्य शरीरकी उत्पत्तिके लिये उपयुक्त कुलमें जन्म लेनेका प्रयोजन है। उत्कृष्ट Heredity (पैत्रिक) योग्य शरीरका उत्पादक है। पवित्र श्रीमान् पुरुषोंके गृहमें जन्म होनेसे पवित्र और बल-युक्त शरीरका उत्पन्न होना सम्भव है, योगी कुलमें

जन्म लेनेसे उत्कृष्ट मन और प्राण गठित होता एवं उसी तरहकी शिक्षा और मानसिक गति भी प्राप्त होती है।

भारतवर्षमें लगातार कितने ही वर्षोंसे देखा जा रहा है कि, एक नयी जाति पुरानी ज्ञान-रहित जातिमें उत्पन्न हो रही है। भारतमाताकी पुरानी संतति धर्म्म-ग्लानि और अधर्म्ममें जन्म ग्रहण करके उसी तरहकी शिक्षा प्राप्तकर अल्पायु, क्षुद्राशय, स्वार्थ-परायण और संकीर्ण हृदय हो गयी थी। उसमें अनेकों तेजस्वी महात्माओंने शरीर धारणकर इस भीषण आपत्ति कालमें जातिकी रक्षा की है। किन्तु वे अपनी शक्ति और प्रतिभाके उपयुक्त कर्म न करके केवल जातिके भविष्य माहात्म्य और विशाल कर्मके क्षेत्रकी उत्पत्ति करके ही गये हैं। उन्हींके पुण्य-बलसे आज नवीन उषाकी किरण-माला चारों ओर प्रकाश कर रही है। भारतमाताकी नवीन संतति आज पिता-माताके गुण प्राप्त करनेसे वंचित रह साहसी, तेजस्वी, उच्चाशय, उदार, स्वार्थत्यागी, दूसरोंके और देशके हित साधनमें उत्साही तथा उच्च आकांक्षा-पूर्ण हो गयी है। यही कारण है कि आजकल नवयुवक अपने पिता-माताके वशमें रह असली पथके पथिक हो रहे हैं। वृद्धों और नवयुवकोंके मतमें विभिन्नता एवं कार्य्यकालमें विरोध उपस्थित हो रहा है। वृद्धलोग इस सत्ययुगके प्रवर्त्तक दैवी प्रेरणाके वशीभूत नवयुवकोंको स्वार्थ और संकीर्णताकी सीमामें आबद्ध, रखनेकी चेष्टाकर बिना समझे कलियुगकी सहायता कर रहे

हैं। किंतु युवकगण महाशक्तिसे उत्पन्न आगकी चिनगारियों- की तरह पुरानेके नाश और नयेकी उत्पत्तिमें उद्यत हैं; वे पितृ-भक्ति और वाध्यताकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। इस अनर्थकी शांति भगवान ही कर सकते हैं। यह निश्चय है कि, इस महाशक्तिकी इच्छा कभी विफल नहीं हो सकती, और ये नवयुवक जिस कामको करते आ रहे हैं, उस कामको बिना पूरा किये वे नहीं मानेंगे। ऐसा होनेका कारण नवयुवकोंमें पूर्व-पुरुषोंका प्रभाव है। अधम Heredity (पैत्रिकों) के दोष तथा राक्षसी शिक्षाके दोषसे बहुतसे कुलांगार भी उत्पन्न हुए हैं, जो लोग इस नवीन युगके परिवर्तनकालमें प्रवृत्त हैं, वे भी उन कुलांगारोंमें भीतरी तेज और शक्तिका विकाश नहीं करने पा रहे हैं। नवयुवकोंमें सत्ययुगके प्रकाशका एक पहला लक्षण, धर्म्म-परायण बुद्धि और बहुतोंके हृदयमें योगकी इच्छा और अधखिली योग-शक्तिका होना है।

अलीपुर (कलकत्ते) वाले बमके अभियुक्तोंमें अशोक- नन्दी नामक एक अभियुक्त थे। उन्हें देखकर कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता था कि यह किसी भी षड्यंत्रमें लिप्त हुए थे। अशोकनन्दीको बहुत ही थोड़े और विश्वास न करने योग्य प्रमाणपर दंड दिया गया था। वह अन्य देशभक्तों- की तरह देशसेवामें रत नहीं हुए थे, बुद्धिसे, चरित्रसे तथा प्राणसे वह पूर्ण योगी और भक्त थे। संसारीके गुण उनमें छूनक नहीं गये थे। उनके पितामह सिद्ध तांत्रिक योगी एवं उनके

पिता भी योग-प्राप्त शक्ति-सम्पन्न पुरुष थे। गीतामें जिस योगीके कुलमें जन्म होना मनुष्यके लिये अत्यन्त दुर्लभ कहकर वर्णन किया हुआ है, अशोकनन्दीको वही दुर्लभकुल प्राप्त हुआ था। थोड़ीही अवस्थामें उनके पूर्वजन्मकी योग-शक्तिके लक्षण एक एक करके प्रकट होने लगे थे। गिरफ़ार होनेके बहुत पहले ही उन्हें ज्ञात हो गया था कि, उनकी मृत्यु युवावस्थामें ही होगी; इसीसे पढ़नेमें और सांसारिक जीवनके पहले आयोजन अर्थात् उद्योगमें उनका मन बिलकुल नहीं लगता था। फिर भी पिताकी सम्मतिसे पूर्वज्ञात असिद्धिकी उपेक्षा करके कर्त्तव्य-कर्म समझकर वही करते थे एवं योग-पथमें भी आरूढ़ रहते थे। ऐसे समयमें ही वह गिरिफ़ार किये गये। इस कर्म-फल-प्राप्त आपत्तिमें जरा भी विचलित न होकर अशोकनन्दी जेलमें योगाभ्यास करनेमें अपनी पूर्णशक्तिका प्रयोग करने लगे। यद्यपि इस मुकद्दमेके अभियुक्तोंमेंसे बहुतसे लोगोंने इस पथका अवलम्बन किया था, तथापि उन सभोंमें अशोक अग्रगण्य न होते हुए भी अद्वितीय थे। वे भक्ति और प्रेममें किसीकी भी अपेक्षा हीन नहीं थे। उनका उदार चरित्र, गम्भीर भक्ति और प्रेमपूर्ण हृदय सबके लिये मुग्धकर था। गोसाईंकी हत्याके समय ये Hospital (अस्पताल) में रोगीकी दशामें थे। पूर्ण रीतिसे स्वस्थ्य होनेके पहले ही वे निर्जन कारावासमें रखे गये। उसी समय उन्हें ज्वर भी आने लगा। ज्वरकी हालतमें उन्हें बिना वस्त्रके सरदी सहनकर समय बिताना पड़ता था।

इससे उन्हें क्षयरोग हो गया और उसी अवस्थामें जबकि प्राण-रक्षाकी और कोई आशा नहीं थी,—कठिन दंड दिया जाकर वे काल कोठरीमें रखे गये। बैरिस्टर श्रीयुत चित्तरंजन-दासकी* प्रार्थनासे उनको अस्पताल ले जानेकी व्यवस्था की गयी, किन्तु जमानत देनेपर भी छुटकारा नहीं हुआ। अंतमें छोटे लाट महोदयकी सहृदयतासे अपने घरमें स्वजनोंकी सेवा पाकर मरनेकी अनुमति मिली। अपीलसे छूटनेके पहले ही ईश्वरने उन्हें शरीर रूपी कारावाससे मुक्ति दे दी। अंत समय-में अशोककी योगशक्ति हदसे ज्यादा बढ़ गयी और मृत्युके दिन विष्णु-शक्तिसे अभिभूत हो सब लोगोंमें भगवानका मुक्ति-दायक नाम और उपदेश वितरणकर ईश्वरके नामका उच्चारण करते हुए उन्होंने क्षणिक शरीरका त्याग किया।

पूर्वजन्म-प्राप्त दुःख फलको नाश करनेके लिये अशोकनन्दी-का जन्म हुआ था, इसीसे यह अनर्थक कष्ट और ऐसी अकाल मृत्यु हुई। सत्ययुगके प्रवृत्त होनेमें जिस शक्तिकी आवश्यकता होती है, वह शक्ति उनके शरीरमें अवतीर्ण नहीं थी अवश्य, किन्तु उन्होंने स्वाभाविक योग-शक्ति प्रकाशका उज्वल दृष्टान्त अवश्य दिखा दिया है। कर्मकी गति ऐसी ही होती है। पुण्यवान लोग अपने पापके फलका नाश करनेके लिये थोड़े

* देशबन्धुदास महाशयकी महत्वपूर्ण कार्यों एवं अद्भुत देशभक्ति सहित सचित्र जीवनी अवश्य पढ़िये। मूल्य ॥)

समयतक पृथ्वीपर विचरण करते हैं, फिर पापमुक्त होकर दुष्ट शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करके अन्तर्निहित शक्तिका प्रकाश और जीवोंके हितका सम्पादन करनेके लिये पृथ्वीपर आते हैं।

जातीय उत्थान

हमारे प्रतिपक्षी अंग्रेजलोग वर्तमान समयके महत् देशव्यापी आन्दोलनको पहलेहीसे द्वेषसे उत्पन्न कहते आ रहे हैं एवं उनके अनुयायी कितने ही भारतवासी भी इस मतकी पुनरावृत्ति करनेमें त्रुटि नहीं कर रहे हैं। किन्तु हम अपने धर्मका प्रचार करनेमें तत्पर हैं; जातीय उत्थान स्वरूप आन्दोलनको धर्मका एक प्रधान अंग समझते हैं, इसीसे उसमें शक्ति व्यय कर रहे हैं। यह आन्दोलन यदि द्वेषसे उत्पन्न हुआ होता, तो हमलोग धर्मका अंग कहकर कभी भी इसका प्रचार करनेके लिये साहसी न होते। विरोध, युद्ध और हत्यातक धर्मका अंग हो सकती है, किंतु द्वेष और घृणा धर्मके बाहर हैं; क्योंकि ये दोनों ही जगत्की क्रमशः उन्नतिके विकाशमें वर्जनीय हैं। अतः जो लोग स्वयम् इन वृत्तियोंका पोषण करते हैं अर्थात् जो स्वयम् द्वेष और घृणा करते हैं अथवा द्वेष और घृणाको जातिमें फैलानेकी चेष्टा करते हैं, वे अज्ञानान्धकारमें पड़कर पापको आश्रय देते हैं। इस आंदो-

उनमें कभी भी द्वेष प्रविष्ट नहीं हुआ, सो मैं नहीं कह सकता। यदि एक पक्षवाले द्वेष और घृणा करें, तो दूसरे पक्षवालोंमें भी उसके प्रतिघात स्वरूप द्वेष और घृणाका उत्पन्न होना अनिवार्य्य है। इस तरहके पापोंको बढ़ानेके लिये बंगालके कई अंग्रेजी समाचार-पत्र और उद्धत-स्वभाववाले अत्याचारी व्यक्तियोंका व्यवहार ही उत्तरदायी है। सम्वाद-पत्रोंमें प्रति-दिन उपेक्षा, घृणा और विद्वेष सूचक तिरस्कार एवं रेलमें, रास्तेमें, हाटमें, गालियां, अपमान और मारतक कितनी ही बार सहन करके अंतमें उपद्रव-सहिष्णु और शांत प्रकृति भारतवा-सियोंको भी यह असह्य हो गया। अंततः भारतीयोंको भी गालीके बदले गाली और मारके बदले मारका प्रतिदान आरम्भ करना पड़ा। बहुतसे अंग्रेजोंने भी अपने देशभाइयों-(अंग्रेजों) के इस दोष और अशुभ-वृष्टिके दायित्वको स्वीकार किये हैं। इसके सिवा राज-कर्मचारी भी कठिन भ्रमके कारण बहुत दिनोंसे प्रजाके स्वार्थ-विरोधी तथा असंतोष-जनक और हार्दिक आह उत्पन्न करनेवाले कार्य करते आ रहे हैं। मनुष्यका स्वभाव क्रोधसे घिरा हुआ होता है; स्वार्थमें बाधा पड़ने, अनुचित व्यवहार अथवा प्राणसे प्रिय वस्तु या भावपर दौरात्म्य होनेसे वह सब-प्राणियोंमें विद्यमान क्रोधाग्नि जल उठती है; फिर क्रोधके आधिक्य और अंधगतिके कारण द्वेष और द्वेषसे उत्पन्न आचरण भी उत्पन्न हो जाते हैं। भारतवासियोंके शरीरमें बहुत दिनोंसे अंग्रेज व्यक्ति- विशेषोंके अन्यायी आचरण और उद्धत

बातों एवं वर्तमान शासन-प्रणालीमें प्रजाका कोई भी प्रकृत अधिकार या क्षमता न रहनेके कारण भीतर ही भीतर असन्तोष अलक्षित भावसे बढ़ने लगा। अंतमें लार्ड कर्जनके शासन-कालमें वह असन्तोष तीव्र आकार धारण करके वंग-विच्छेदसे उत्पन्न असह्य मर्म्मवेदनाके कारण असाधारण क्रोध देशभरमें भभक उठा और अधिकारिवर्गकी निग्रह-नीतिके कारण वह द्वेषमें परिणत हो गया। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि उस समय बहुतसे लोगोंने क्रोधमें अधीर होकर उस द्वेषाग्निके कारण अपनी आहुति भी दी थी। पर ईश्वरकी लीला बड़ी ही विचित्र है। उनकी सृष्टिमें शुभ और अशुभके द्वंद्वसे जगत्-की क्रमोन्नति परिचालित एवं प्रायः ही अशुभ, शुभकी सहायता करता और ईश्वरके इच्छित मंगलमय फलको पैदा करता है। यही कारण है कि, वह परम अशुभ जो द्वेषकी सृष्टि था, उसका भी यह शुभ फल हुआ कि तमसाच्छन्न भारतवासियोंमें राजसिक शक्तिके उत्पन्न होनेकी उपयोगी उत्कट राजसिक प्रेरणा उत्पन्न हुई। किन्तु यही कहकर हम अशुभ या अशुभकारियोंकी प्रशंसा नहीं कर सकते। जो लोग राजसिक अहंकारके आवेशमें अशुभ कार्य्य करते हैं, उनके कार्य्योंद्वारा ईश्वर-निर्दिष्ट शुभ फलकी सहायता होती है, कहकर उनका दायित्व और फल-भोगरूप बंधन कुछ भी कम नहीं किया जा सकता। जो लोग जातिगत द्वेषका प्रचार करते हैं, वे भूल करते हैं; द्वेषके प्रचारसे जो फल होता है, निःस्वार्थ धर्म-प्रचारसे उसका दसगुना फल

होता एवं उससे अधर्म और अधर्मसे उत्पन्न पापफलका भोग न होकर धर्मवृद्धि और अमिश्रित पुण्यकी सृष्टि होती है। हम जातीय द्वेष और घृणा उत्पन्न करनेवाली बातोंका उल्लेख बिलकुल ही नहीं करेंगे; दूसरोंको भी इस प्रकारके अनर्थकी सृष्टि करनेसे रोकेंगे। जाति जातिमें स्वार्थ-विरोध होनेसे—अर्थात् यदि एक जातिके स्वार्थ साधनसे हमारी जातिका स्वार्थनाश हो, और हमारी जातिके स्वार्थ साधनसे दूसरी जातिके स्वार्थका नाश हो—तथा वर्त्तमान अवस्थाका अपरिहार्य अंग स्वरूप होनेसे, हम दूसरी जातिका स्वार्थनाश और अपनी जातिका स्वार्थ साधन करनेमें कानून और धर्म-नीतिके अधिकारी हैं। अत्याचार या अन्याय कार्य होनेपर हमें उसका तीव्र उल्लेख एवं जातीय शक्तिके संघात अर्थात् संगठन और सब तरहके वैध उपायों और वैध प्रतिरोधोंद्वारा खंडन करनेके लिये कानून और धर्मनीतिसे अधिकार है। कोई भी व्यक्ति विशेष, चाहे वह राज-कर्मचारी हो, अथवा देशवासी ही क्यों न हो, अमंगल-जनक अन्याय और अयौक्तिक कार्य्य अथवा मत प्रकट करनेपर हम सभ्य समाजोचित आचारका अविरोधी तिरस्कार करके उस कार्य अथवा मतका प्रतिवाद और खंडन करनेके अधिकारी हैं। किन्तु किसी भी जाति या व्यक्तिपर द्वेष अथवा घृणाका पोषण अथवा सृजन करनेसे हम उसके अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। हाँ यदि ठीक काम करते हुए इस प्रकारका लाँछन लगाया जाय तो बात जुदी है; पर भविष्यमें

जिससे यह दोषारोपण भी न किया जा सके, यही हमारा सब-लोगों एवं खासकर जातीय समाचार-पत्रों और कार्य्य-कुशल नवयुवकोंके प्रति कथन है।

आर्योंका ज्ञान, आर्योंकी शिक्षा और आर्योंका आदर्श, जड़ ज्ञानवादी तथा राजसिक भोगपरायण पाश्चात्य जातिके ज्ञान, शिक्षा और आदर्शसे बिलकुल स्वतंत्र है। यूरोपियनोंके मतमें स्वार्थ और सुखकी खोजके अभावमें कर्म अनाचरणीय है—अर्थात् जिस कामके करनेसे स्वार्थ और सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना न हो उसे नहीं करना चाहिये,—द्वेषके अभावमें विरोध और युद्ध होना असम्भव है। चाहे सकाम कर्म करना हो, अथवा कामना-हीन संन्यासी हो कर ही क्यों न रहना हो, यही यूरोपियनोंकी धारणा है। जीविकाके लिये संगठनमें जगत् गठित और जगत्की क्रमशः उन्नति साधित है, यही उनके विज्ञानका मूल मंत्र है। आर्योंने जिस दिन उत्तर कुरुसे दक्षिणकी ओर यात्रा करके पञ्चनद (पंजाब) की भूमिमें प्रवेश किया, उसीदिन उन्होंने सनातन शिक्षा प्राप्त करके जगत्की इस सनातन स्थापनाको भी जान लिया कि, यह विश्व आनन्द-गृह है; प्रेम, सत्य और शक्तिके विकाशके लिये सर्वव्यापी नारायण स्थावर जङ्गम, मनुष्य पशु, कीट पतंग, साधु पापी, शत्रु मित्र, तथा देवता और असुर सबमें प्रकट होकर जगत्मय क्रीड़ा कर रहे हैं। सुख, दुःख, पाप, पुण्य, बन्धुत्त्व, शत्रुत्त्व, देवत्त्व और असुरत्त्व सब क्रीड़ाके लिये है। मित्र शत्रु सभी क्रीड़ाके

सहचर दो भागोंमें विभक्तकर स्वपक्ष और विपक्षकी सृष्टि हुई है। आर्य लोग मित्रकी रक्षा तथा शत्रुका नाश करते थे, किन्तु उनकी उसमें आसक्ति नहीं थी। वे सर्वत्र, सब प्राणियोंमें, सब वस्तुओंमें, सब कामोंमें और सब फलोंमें नारायणको देखकर इष्ट अनिष्ट, शत्रु मित्र, सुख दुःख, पाप पुण्य तथा सिद्धि असिद्धिमें समभाव रखते थे। किन्तु इस समभावका यह अर्थ नहीं कि सब परिणाम उनको इष्ट, सबलोग उनके मित्र, सारी घटनाएं उनको सुखदायिनी, सब कर्म उन्हें करने योग्य और सब फल उन्हें वाञ्छनीय थे। बिना सम्पूर्ण योगकी प्राप्ति हुए द्वन्द्व मिटता नहीं, और वह अवस्था बहुत ही कम लोगोंको प्राप्त होती है, किन्तु आर्यशिक्षा साधारण आर्योंकी सम्पत्ति है। आर्यलोग इष्ट साधन और अनिष्ट हटानेमें सचेष्ट रहते थे, किन्तु इष्ट-साधनसे विजयके मदमें मत्त नहीं होते थे और न अनिष्ट-सम्पादनमें भीत ही होते थे। मित्रका सहाय्य और शत्रुकी पराजय उनकी चेष्टाका उद्देश्य होता था, किन्तु वे शत्रुसे द्वेष और मित्रका अन्याय पक्षपात कभी नहीं करते थे। आर्यलोग कर्त्तव्यके अनुरोधसे स्वजनोंका संहार भी करते थे और विपक्षियोंके प्राणकी रक्षाके लिये प्राणत्याग भी करते थे। सुख उनको प्रिय और दुःख उनको अप्रिय अवश्य होता था, किन्तु न तो वे सुखमें अधीर ही होते थे और न दुखमे धैर्य और प्रीतिके भावसे डिगते ही थे। वे पापको हटाने और पुण्यका संचय करते थे, किन्तु पुण्य-कर्ममें गर्वित और पापमें पतित-

होनेसे बालककी तरह रोते नहीं थे वरन् हँसते हँसते समाजसे उठकर शरीर शुद्धि करके फिर आत्मोन्नति करनेमें सचेष्ट हो जाते थे। आर्यलोग कर्मकी सिद्धिके लिये विपुल प्रयास करते थे, हजारों बार पराजय होनेसे भी विरत नहीं होते थे; किन्तु असिद्धिमें दुःखित, विमर्ष या विरत होना उनके लिये अधर्म था। अवश्य ही जब कोई योगारूढ़ होकर गुणातीत भावसे कर्म करनेमें समर्थ होता था, तब उसके लिये द्वन्द्वका अंत हो जाता था। जगंज्जननी जो कार्य देती थीं, वे बिना विचारे वही करते, जो फल वह देतीं, प्रसन्नता पूर्वक उसका भोग करते, स्वपक्ष कहकर जो कुछ निर्दिष्ट करतीं, उसीको लेकर माताका कार्य साधन करते, विपक्ष कहकर जो कुछ दिखातीं उसीके आदेशानुसार दमन या नाश करते थे। बस, यही शिक्षा आर्यशिक्षा है। इस शिक्षामें द्वेष और घृणाको स्थान नहीं है। नारायण सब जगह हैं। किससे द्वेष करेंगे, और किससे घृणा करेंगे? हम यदि पाश्चात्य भावसे राजनीतिक आन्दोलन करें, तो द्वेष और घृणा अनिवार्य है एवं पाश्चात्योंके मतसे निन्दनीय भी नहीं है, क्योंकि स्वार्थका विरोध है, एक पक्षका उत्थान और दूसरे पक्षका पतन है; किन्तु हमारा उत्थान केवल आर्य-जातिका उत्थान नहीं, वरन् आर्य-चरित्र, आर्य-शिक्षा और आर्य-धर्मका उत्थान है। आन्दोलनकी पहली अवस्थामें पाश्चात्य राजनीतिका प्रभाव बड़ा प्रबल था, फिर भी आर्याभिमानके तीव्र अनुभवसे धर्म-प्रधान दूसरी अवस्था

प्रस्तुत हो गयी है। राजनीति धर्मका अंग है, किन्तु उसका आर्य-भाव और आर्य-धर्मके अनुमोदित उपायोंसे आचरण करना चाहिये। हम अपने भविष्यके आशा स्वरूप युवक-सम्प्रदायसे कहते हैं कि, यदि तुम्हारे हृदयमें द्वेष हो, तो शीघ्र उसे दूर करो। क्योंकि विद्वेषकी तीव्र उत्तेजनामें क्षणिक राजनैतिक बल जाग्रत होता और शीघ्र ही नष्ट हो दुर्बलतामें परिणत हो जाता है। जो लोग देशके उद्धारके लिये प्रतिज्ञा-बद्ध और प्राण समर्पण कर चुके हों, उन लोगोंमें प्रबल भ्रातृ-भाव, कठोर उद्यम, लोहेके समान दृढ़ता और जलती हुई आगके समान तेजका संचार होना आवश्यक है। यह निश्चय है कि उसी शक्तिसे हमारा बिखरा हुआ बल जुड़ेगा और हम बहुत दिनोंके लिये विजयी होंगे।
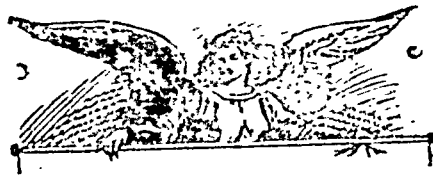
न्यारेकी समस्या

भारतवर्षके शिक्षित सम्प्रदायपर प्रायः सौ वर्षोंसे पश्चिमी भावोंका पूर्ण आधिपत्य होनेके कारण वे आर्य-ज्ञान और आर्य-भावसे वंचित होकर शक्ति-हीन, पराश्रय-प्रवण, तथा अनुकरण-प्रिय हो गये थे। इन्हीं तामसिक भावोंका इस समय नाश हो रहा है। इन भावोंकी उत्पत्ति क्यों हुई, एक-बार उसकी मीमांसा करना आवश्यक है। अठारवीं शताब्दी-में तामसिक अज्ञान और घोर राजसिक प्रवृत्ति भारतवासियों-को निगल गयी थी, देशमें हजारों स्वार्थ-परायण, कर्तव्य-विमुख, देश-द्रोही शक्ति-सम्पन्न तथा आसुरी प्रकृतिके लोगोंने जन्म ग्रहण करके पराधीनताके अनुकूल समय प्रस्तुत कर दिया था। भगवानके गूढ़ रहस्यका सम्पादन करनेके लिये उसी समयमें द्वीपान्तरवासी (विदेशी) अंग्रेज व्यवसायियोंका भारतमें आगमन हुआ। पापके भारसे व्याकुल भारतवर्ष अना-यास ही विदेशियोंके हस्तगत हो गया। इस अद्भुत कांडको देखकर इस समय भी संसार आश्चर्यान्वित है। इसकी कोई भी संतोष-जनक मीमांसा न कर सकनेके कारण सबलोग अंग्रेज-जातिके गुणोंकी भूरि भूरि प्रशंसा कर रहे हैं। लोग कहते हैं कि

अंग्रेज-जातिमें अनन्त गुण हैं, न होनेसे वह पृथ्वीकी श्रेष्ठ दिग्वि-जयी जातिपर अधिकार न कर सकती। किन्तु जो लोग कहते हैं कि भारतवासियोंकी निकृष्टता, अंग्रेजोंकी श्रेष्ठता, भारत वासियोंका पाप, और अंग्रेजोंका पुण्य ही इस अद्भुत घटनाका एकमात्र कारण है, वे पूर्ण भ्रान्त न होते हुए भी लोगोंके मनमें कई भ्रान्त धारणायें उत्पन्न करते हैं। अतएव इस विषयकी सूक्ष्म अनुसन्धान पूर्वक निर्भूल मीमांसा करनेकी चेष्टा करना आवश्यक है। क्योंकि बिना अतीतकी सूक्ष्म खोज किये भविष्य-की जातिका निर्णय करना दुःसाध्य है।

अंग्रेजोंका भारतपर विजय करना संसारके इतिहासमें अतुलनीय घटना है। यह विशाल देश (भारत) यदि असभ्य, दुर्बल या अज्ञ और असमर्थ जातिका निवास-स्थान होता, तो इस तरहकी बात न कही जाती। किन्तु भारतवर्ष राजपूत, मराठा, सिख, पठान, और मुगल प्रभृति वीरोंका निवास-स्थान एवं तीक्ष्ण बुद्धि बंगाली, चिन्ताशील मद्रासी तथा राजनीतिज्ञ महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भारतमाताकी संतान हैं। अंग्रेजोंकी विजय-के समय नानाफड़नवीसके समान विचक्षण राजनीति-ज्ञाता, माधोजी सिन्धियाके सदृश युद्ध-विशारद सेनापति तथा हैदर-अली और रणजीत सिंहके समान तेजस्वी और प्रतिभाशाली राज्य-निर्माता व्यक्तियोंने इस देशके प्रत्येक प्रान्तमें जन्म ग्रहण किये थे। अठारहवीं शताब्दीमें भारतवासी तेजमें, शौर्य-में, तथा बुद्धिमें किसी भी जातिकी अपेक्षा कम नहीं थे।

अठारहवीं शताब्दीका भारत सरस्वतीका मंदिर, लक्ष्मीका भण्डार और शक्तिका क्रीड़ा-स्थान था। पर जिस देशको प्रबल और मर्द्दन-शील मुसलमान लोग सैकड़ों वर्षोंके पूर्ण प्रयास और अत्यन्त कष्टसे जीतकर कभी भी उसपर निर्विघ्न शासन नहीं कर सके, उसी देशने पचास वर्षके भीतर अनायास ही मुट्ठीभर अंग्रेज व्यापारियोंका आधिपत्य स्वीकार कर लिया; वही देश सौ वर्षमें ही अंग्रेजोंके एकच्छत्र साम्राज्यकी छाया-में निश्चेष्ट भावसे निद्रित भी हो गया! कहोगे कि एकताका अभाव इस परिणामका कारण है। मैंने स्वीकार किया कि अवश्यमेव एकताका अभाव हमारी दुर्गतिका एक प्रधान कारण है; किन्तु भारतवर्षमें किसी भी समय एकता नहीं थी। न तो महाभारतके समयमें ही एकता थी और न चन्द्र-गुप्त तथा अशोकके समयमें ही थी। मुसलमानोंके शासन-काल-में भी एकता नहीं थी और न अठारहवीं शताब्दीमें ही एकता थी। इसलिये एकताका अभाव इस अद्भुत घटनाका एकमात्र कारण नहीं हो सकता। यदि कहो, अंग्रेजोंका पुण्य इसका कारण है, तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि जिन्हें उस समयका इतिहास ज्ञात है, क्या वे यह कहनेके लिये साहस करेंगे कि उस समयके अंग्रेज व्यापारी उस समयके भारतवासियोंकी अपेक्षा गुण और पुण्यमें श्रेष्ठ थे? जिन क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स प्रमुख अफसरोंने भारत-भूमिको जीत और लूटकर जगतमें अतुलनीय साहस, उद्यम और दुरात्माभिमान एवं

अतुलनीय दुर्गुणोंके जगत्‌में अपनेको दृष्टान्त बना गये हैं, उन निष्ठुर, स्वार्थ-परायण, अर्थ-लोलुप, शक्ति-सम्पन्न राक्षसोंकी बातें सुननेपर हँसीका रोकना दुष्कर हो जाता है। साहस, उद्यम और दुरात्माभिमान असुरोंका गुण और असुरोंका पुण्य है; और वही पुण्य क्लाइव प्रभृति अंग्रेजोंका था। किन्तु उनका पाप भारतवासियोंके पापकी अपेक्षा जरा भी कम नहीं था। अतएव यह कहना कि इस आश्चर्यजनक कार्यके होनेका कारण अंग्रेजोंका पुण्य है, उचित नहीं।

अंग्रेज भी असुर थे और भारतवासी भी असुर थे, ऐसा कहनेसे देव और असुरमें युद्ध नहीं होता, बल्कि असुर असुर-में युद्ध होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि पाश्चात्य असुरों-में ऐसा कौनसा महान गुण था जिसके प्रभावसे उनका तेज, शौर्य और बुद्धि सफल हुई, और भारतवासी असुरोंमें ऐसा कौनसा सांघातिक दोष था जिसके प्रभावसे उनका तेज, शौर्य और बुद्धि विफल हुई? इस प्रश्नका पहला उत्तर यह है कि, भारतवासी और सब गुणोंमें अंग्रेजोंके समान होते हुए भी जातीय-भाव रहित थे, और अंग्रेजोंमें उस गुणका पूर्ण विकाश था। इस बातसे कोई यह न समझे कि, अंग्रेजलोग स्वदेश प्रेमी थे, स्वदेश-प्रेमकी प्रेरणासे वे भारतमें बहुत बड़ा साम्रा-ज्य-गठन करनेमें समर्थ हुए थे। स्वदेश-प्रेम और जातीय-भाव दोनोंकी स्वतंत्र वृत्तियाँ हैं। स्वदेश-प्रेमी अपने देशकी सेवा-के भावमें उन्मत्त, सब जगह अपने देशके हितका ध्यान रखता,

अपने सब कार्योंको स्वदेशको इष्टदेवता समझ यज्ञरूपसे अर्पण करके देशकी भलाईके लिये करता और देशके स्वार्थको ही अपना स्वार्थ समझता है। पर अठारहवीं शताब्दीके अंग्रेजों-का यह भाव नहीं था; यह भाव किसी भी जड़वादी पाश्चात्य जातिके हृदयमें स्थायी रूपसे नहीं था। अंग्रेजलोग स्वदेशके हितके लिये भारतमें नहीं आये थे, और न उन्होंने स्वदेश-हितार्थ भारतको जीता ही था, वे तो वाणिज्यके लिये, अपने अपने आर्थिक लाभके लिये ही भारतमें आये थे; उन्होंने स्वदेश-की भलाईके लिये भारतको विजय नहीं किया था वल्कि बहुत-से अंग्रेजोंने अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये जीता था। किन्तु स्वदेश-प्रेमी न होते हुए भी वे जातीय भावापन्न थे। हमारा देश श्रेष्ठ है, हमारी जातिका आचार विचार, धर्म, चरित्र, नीति, बल, विक्रम, बुद्धि, मत और कर्मोत्कृष्टता तुलना-रहित है एवं दूसरी जातिके लिये दुर्लभ है, यह अभिमान है; हमारे देशके हितमें ही हमारा हित है, हमारे देशके गौरवमें ही हमारा गौरव है तथा हमारे देशभाइयोंकी वृद्धिमें ही हमारी वृद्धि है, यह विश्वास है; केवल अपना स्वार्थ साधन न करके उसके साथ देशका स्वार्थ-सम्पादन करना देशके मान, गौरव और वृद्धिके लिये युद्ध करना प्रत्येक देशवासीका कर्त्तव्य है, तथा आवश्यकता पड़नेपर उस युद्धमें निर्भीकता पूर्वक प्राण-विसर्जन करना वीरोंका धर्म है, यह कर्तव्य-बुद्धि जातीय भावका प्रधान लक्षण है। जातीय भाव राजसिक भाव

हैं और स्वदेश-प्रेम सात्त्विक भाव है। अपने "अहं" और देश-के "अहं" का जो लोग त्याग कर सकते हैं, वे ही आदर्श देश-प्रेमी हैं और जो अपने सम्पूर्ण अहंको पृथक् रख उसके द्वारा देशका अहं बढ़ाते हैं, वे जातीय भावापन्न हैं; उस समयके भारतवासी जातीय भावसे शून्य थे। वे कभी भी जातिका हित नहीं देखते थे, सो बात नहीं कही जा सकती, किन्तु जातिके और अपने हितमें लेशमात्र विरोध होनेसे प्रायः जातिके हित-की क्षति भी करके अपना हित-सम्पादन वे अवश्य करते थे। एकताके अभावकी अपेक्षा जातीयताका अभाव हमारे विचारसे विशेष नाशकारक दोष है। देशभरमें पूर्ण जातीय भाव व्याप्त होने-से इन नाना प्रकारके भेदोंसे परिपूर्ण देशमें भी एकताका होना सम्भव है; केवल एकता चाहिये, एकता चाहिये—कहनेसे एकता साधित नहीं होती। यही अंग्रेजोंके भारत-विजयका प्रधान कारण है। असुरों असुरोंमें संघर्ष होनेसे ही जातीय भावा-पन्न और एकता-प्राप्त असुरोंने जातीयता-शून्य और एकता-रहित समान गुण-विशिष्ट असुरोंको पराजित किया। विधाता-का यह नियम है कि जो दक्ष और शक्तिमान होता है, वही कुश्ती (लड़ने) में जीतता है; जो तीव्र गतिवाला और सहिष्णु होता है, वही दौड़में निश्चित स्थानपर पहले पहुँचता है। सच्चरित्र या पुण्यवान् होनेसे कोई दौड़ या कुश्तीमें जयी नहीं होता, वरन् जयी होनेके लिये उपयुक्त शक्तिका होना आवश्यक है। इसी तरह जातीय भावके विकाशसे दुश्चरित्र और आ

रिक जाति भी साम्राज्य स्थापन करनेमें समर्थ होती है, और जातीय भावसे रहित सच्चरित्र तथा गुण-सम्पन्न जाति भी पराधीन हो अन्तमें अपने चरित्र और गुणको खोकर अधोगति-को प्राप्त होती है।

राजनीतिकी ओर देखनेसे यही भारतके विजयकी श्रेष्ठ मीमांसा है; किन्तु इसमें और भी गम्भीर सत्य स्थापित है। कहा जा चुका कि, तामसिक अज्ञान और राजसिक प्रवृत्तिकी भारतमें बहुत प्रबलता हो गयी थी। यह अवस्था पतनके पहलेकी अवस्था थी। रजोगुणी सेवामें राजसिक शक्तिका विकाश होता है; किन्तु केवल रज शीघ्र ही तमोमुखी हो जाता है, और उद्धत बन्धन-रहित चेष्टा बहुत जल्द अवसन्न और शान्त होकर अप्रवृत्ति, हीनता, विषाद और निश्चेष्टनामें परिणत हो जाती है। सत्त्वमुखी होनेपर ही रजोशक्ति स्थायी होती है। सात्त्विक भाव न भी होनेसे, सात्त्विक आदर्शका होना आवश्यक है; उसी आदर्शद्वारा रजोशक्ति शृंखलित होती और स्थायी बल प्राप्त होता है। स्वाधीनता और सुशृंखलता ये दोनों महान आदर्श अंगरेजोंमें बहुत दिनोंसे थे, और इन्हींके बलसे अंगरेजलोग जगत्में प्रधान और दीर्घ-विजयी हुए। उन्नीसवीं शताब्दीमें परोपकारकी इच्छा भी जातियोंमें जागृत हुई थी, उसके बलसे इंगलैंड जातीय महत्वकी अन्तिम अवस्थामें पहुँचा था।

यूरोपमें जिस ज्ञान-तृष्णाकी प्रबल प्रेरणासे पाश्चात्य जाति-

ने सैकड़ों वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं और जरासे ज्ञानकी लालचसे सैकड़ों मनुष्य प्राणतक देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, वही वलीयसी सात्त्विक ज्ञान-तृष्णा अंगरेज जातिमें विकशित थी। इसी सात्त्विक शक्तिसे अंगरेजलोग वलवान थे और इसी सात्त्विक शक्तिके अवक्षीण होते जानेसे अंगरेजोंका प्राधान्य, तेज और विक्रम क्षीण होनेका भय, विषाद और आत्म-शक्तिपर अविश्वास होता जा रहा है। दूसरी ओर भारतवर्षके लोग महान सात्त्विक जातिके थे, उसी सात्त्विक वलसे ही ज्ञान शौर्य और तेजवलमें वे अद्वितीय हो गये थे एवं एकता-रहित होनेपर भी हजारों वर्षतक विदेशियोंके आक्रमणके रोकने और उनका नाश करनेमें समर्थ थे। अन्तमें रजोगुणकी वृद्धि और सतोगुणका ह्रास होने लगा। मुसलमानोंके आगमन कालमें ज्ञानके विस्तारका संकुचित होना आरम्भ हो गया था, उस समय रजोगुण-प्रधान राजपूत जाति भारतके राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ थी; उत्तर भारतमें युद्ध-विग्रह आत्म-कलहका प्राधान्य, और वंगदेशमें वौद्धधर्मकी अवनतिमें तामसिक भाव प्रवल था। अध्यात्म-ज्ञानने दक्षिण भारतमें आश्रय लिया था, अतः उसी सत्त्ववलके प्रभावमें दक्षिण भारत वहुत दिनोंतक स्वाधीनताकी रक्षा करनेमें समर्थ हुआ था। फलतः ज्ञान-तृष्णा एवं ज्ञानकी उन्नति रुकने लगी और उसके स्थानमें पाण्डित्यका मान और गौरव वढ़ने लगा; आध्यात्मिक ज्ञान, यौगिक शक्तिका विकाश और भीतरी (आंतरिक) उन्नतिके स्थानमें तामसिक

पूजा और सकाम राजसिक व्रतोद्यापनका वाहुल्य होने लगा; वर्णाश्रम धर्म लुप्त होनेसे लोगोंने वाहरी आचार और क्रियाओंको अधिक मूल्यवान समझना आरम्भ किया। इसी प्रकार जाति-धर्मके लोप होनेसे ही ग्रीस, रोम, मिश्र और आस्ट्रियाका पतन हुआ था; किन्तु सनातन धर्मावलम्वी आर्य-जातिमें उस सनातन प्रस्रवसे वीच वीचमें सञ्जीवनी अमृतधारा छूटकर जातिकी प्राण-रक्षा करती थी। शंकर, रामानुज, चैतन्य, नानक, रामदास, तुकारामने उसी अमृतसे सींचकर मरणाहत भारतमें प्राणका संचार किया था। किन्तु रज और तमके स्रोतकी उस समय ऐसी शक्ति थी कि उसके खिंचावसे उत्तम भी अधममें परिणत हो गया; साधारण लोग शंकर-प्रदत्त ज्ञानद्वारा तामसिक भावोंका समर्थन करने लगे, चैतन्यका प्रेम-धर्म घोर तामसिक निश्चेष्टताके आश्रयमें परिणत होने लगा, और राम-दासकी शिक्षा पाये हुए महाराष्ट्रीयोंने अपने महाराष्ट्र धर्मको भूलकर स्वार्थ साधन और आत्म-कलहमें शक्तिका व्यवहार कर शिवाजी और वाजीरावका स्थापित किया हुआ साम्राज्य नष्ट कर दिया। अठारहवीं शताब्दीमें इस स्रोतकी पूरी तेजी देखी गयी थी। उस समय समाज और धर्म कुछ लोगोंमें आधुनिक विधान-कर्त्ताओंकी क्षुद्र गाँठमें आवद्ध, वाहरी आचार और क्रियाका आडम्वर धर्मके नामसे स्थित, आर्य-ज्ञान लोप, आर्य-चरित्र नष्ट और सनातनधर्म समाजको छोड़कर सन्या-सियोंके वनवासमें और भक्तोंके हृदयमें छिप गया। भारत

उस समय घोर तमान्धकारमें आच्छन्न था और प्रचंड राज-सिक प्रवृत्ति बाहरी धर्मके पर्देमें स्वार्थ, पाप, देशका अमंगल और दूसरोंका अनिष्ट यथाशक्ति साधन करती थी। देशमें शक्तिका अभाव नहीं था, किन्तु आर्य-धर्म और सत्त्वके लोप होनेके कारण आत्म-रक्षामें असमर्थ उस शक्तिने आत्म-नाश कर दिया। अंतमें अंगरेजोंकी आसुरिक शक्तिसे पराजित होकर भारतकी आसुरिक शक्ति शृंखलित और कैद हो गयी। भारत पूर्ण तमोभावके आवेशमें निद्रित हो गया। तेजहीनता, अप्रवृत्ति, अज्ञान, अकर्मण्यता दूसरे धर्मकी सेवा, दूसरोंका अनुकरण, आत्मविश्वासका अभाव, आत्म-सम्मानका नाश, दासत्व-प्रियता, दूसरोंके आश्रयमें आत्मोन्नतिकी चेष्टा, विषाद, आत्म-निन्दा, क्षुद्राशयता, आलस्य इत्यादि सभी तमोभाव-सूचक गुण हैं। इन सभोंमेंसे उन्नीसवीं शताब्दीके भारतमें किसका अभाव था? उस शताब्दीकी सारी चेष्टाएँ उन सब गुणोंकी प्रबलतासे तामसी-शक्तिके चिह्न सब जगह दिखायी पड़ते हैं।

परमात्माने भारतको जिस समय जगाया, उस समय उस जागरणके पहले आवेशसे जातीय भावके उद्दीपनकी ज्वालामयी शक्ति जातिके ऊपर ऊपर खरतर वेगसे, प्रज्वलित होने लगी साथ ही उन्होंने स्वदेश-प्रेमका नशाभी युवकोंमें उत्पन्न किया। हम पाश्चात्य जातिके नहीं हैं; हम एशियावासी, भारतवासी और आर्य हैं। हमलोगोंमें जातीय भाव है, किन्तु उसमें स्वदेश-प्रेमका संचार न होनेके कारण हमारा जातीय भाव परिस्फुट नहं

हो रहा है। उस स्वदेश-प्रेमकी दीवार है मातृ-पूजा। जिस दिन बंकिमचन्द्रके "वन्देमातरम्" गानने वाह्येन्द्रियोंको लांघ करके प्राणमें आघात किया, उस दिन हमलोगोंके हृदयमें स्वदेश-प्रेम जाग उठा, और माताकी दिव्य मूर्त्ति हृदयमें बैठ गयी। स्वदेश माता और स्वदेश भगवान, यही वेदान्त-शिक्षा-के भीतर प्रधान शिक्षा जातीय उत्थानके बीज स्वरूप हैं। जिस तरह जीव परमात्माका अंश और उसकी शक्ति परमात्माकी शक्तिका अंश है, उसी तरह ये सात करोड़ बंगवासी, तीस करोड़ भारतवासियोंके अंश हैं। उस तीस करोड़को आश्रय देने-वाली-शक्ति-स्वरूपिणी अनन्त भुजान्विता, विपुल-बल-शालिनी भारत-जननी परमात्माकी एक शक्ति, माता, देवी, जगज्जननी काली ही हैं, केवल रूप-विशेषका अंतर है। इस मातृ-प्रेम और मातृ-मूर्त्तिको जातिके मनमें प्राणमें जागरित और स्थापित करनेके लिये इधर कई वर्षोंकी उत्तेजना, उद्यम, कोलाहल, अप मान, और लांछना सहन करना परमात्माके विधानमें विहित था। वह कार्य अब सम्पन्न हो गया है। पश्चात् क्या होगा?

पश्चात् आर्य जातिकी पुरानी शक्तिका पुनरुद्धार होगा। प्रथम आर्य-चरित्र और शिक्षा; द्वितीय यौगिक-शक्तिका संचार और तृतीय आर्योंके योग्य ज्ञान-तृष्णा और कर्म-शक्तिद्वारा नव-युवकोंकी आवश्यक सामग्रीका संचय एवं इधर कई वर्षोंकी उन्मादिनी उत्तेजनाको शृङ्खलित और असली उद्देश्यको सामने रखके मातृ-भूमिके कार्यका उद्धार करना आवश्यक है। इस समय

जो सब नवयुवक देशभरमें राहकी खोज और कर्मकी खोज कर रहे हैं, उन्हें चाहिये कि सबसे पहले अपनेमें शक्ति काफी पैदा करें। जो महान कार्य करना होगा, वह केवल उत्तेजनाद्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता; उसके लिये शक्ति चाहिये। पूर्व पुरुषोंकी शिक्षासे जिस शक्तिके होनेकी आवश्यकता है, उसी शक्तिकी जरूरत है, वही शक्ति युवकोंमें आनी चाहिये। वही शक्ति माता है। माताके लिये आत्म-समर्पण करनेका उपाय सीखना चाहिये। मांके कार्योंको ऐसी निर्भीकतासे करना है कि उसे देखकर संसार चकित हो जाय। उस शक्तिके अभावसे हम-लोगोंकी सारी चेष्टायें विफल होंगी। मातृ-मूर्त्ति आपके और हमारे हृदयमें स्थित है; हमने मातृ-पूजा और मातृ-सेवा करनी सीखी है; अन्तर्निहित माताके लिये अब आत्म-समर्पण करना है। कार्य्योद्धारके लिये दूसरा मार्ग नहीं है।
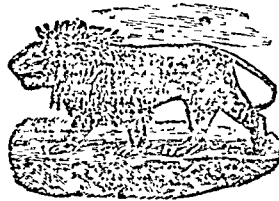
स्वाधीनताका अर्थ

हमारी राजनीतिक चेष्टाका उद्देश्य स्वाधीनता है; किन्तु स्वाधीनता क्या है, इसपर लोगोंके विचार भिन्न भिन्न तरहके हैं। स्वाधीनताका अर्थ बहुतसे लोग स्वायत्त शासन कहते हैं, बहुतसे लोग औपनिवेशिक स्वराज्य कहते हैं और बहुतसे लोग पूर्ण स्वराज्य कहते हैं। आर्य ऋषिलोग पूर्ण व्यावहारिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता एवं उसके फल स्वरूप अक्षुण्ण आनन्दको स्वराज्य कहते थे। राजनीतिक स्वाधीनता स्वराज्यका एकमात्र अंग है—उसके दो भेद हैं, बाह्यिक स्वाधीनता और आन्तरिक स्वाधीनता। विदेशियोंके शासनसे पूर्ण मुक्ति बाह्यिक (बाहरी) स्वाधीनता है, और प्रजातन्त्र आन्तरिक स्वाधीनताका अन्तिम विकाश है। जबतक दूसरेका शासन या राजत्व रहता है, तबतक किसी जातिको स्वराज्य-प्राप्त जाति नहीं कहा जाता। जबतक प्रजातंत्र स्थापित नहीं होता, तबतक जातिके अन्तगर्त प्रजाको स्वाधीन मनुष्य नहीं कहा जाता। हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिये। हम विदेशियोंके आदेश और बन्धनसे पूर्ण मुक्ति तथा अपने घरमें अपना पूर्ण आधिपत्य चाहते हैं; बस यही हमारा राजनीतिक लक्ष्य है।

अब हम संक्षेपमें इस आकांक्षाका कारण बतलाएँगे। जातिके लिये पराधीनता दूत और आज्ञाकारी (नौकर) है, स्वाधीनतासे ही जीवनकी रक्षा और उन्नतिकी सम्भावना है; स्वधर्म अर्थात् जातीय कर्म और चेष्टा ही जातीय उन्नतिका एकमात्र मार्ग है। विदेशी यदि देशपर अधिकार करके अत्यन्त दयालु और हितैषी भी हों, तोभी हमें दूसरे धर्मका बोझ बिना दबाये न छोड़ेगा। उसका उद्देश्य अच्छा हो अथवा बुरा, किन्तु उससे हमारा अहित छोड़ हित नहीं हो सकता। दूसरोंके स्वभाव-नियत मार्गमें बढ़नेकी शक्ति और प्रेरणा हमारी नहीं; उस मार्गमें जानेसे हम खूब अच्छी तरहसे दूसरोंका अनुकरण कर सकते हैं, दूसरोंकी उन्नतिके लक्षण और वेशभूषामें बड़ी दक्षताके साथ अपनी की हुई अवनतिको ढँक सकते हैं, किन्तु परीक्षाके समयमें हम अपने दूसरे धर्मकी सेवासे उत्पन्न दुर्बलता और असारता ही पायेंगे। उस असारके फलसे हमारा भी नाश हो जायगा। रोमका आधिपत्य इसका उदाहरण है। रोमकी सभ्यता प्राप्तकरके प्रधान सारी यूरोपीय जातिने बहुत दिनोंतक स्वच्छन्दतासे सुख किया अवश्य, किन्तु उसकी अन्तिम अवस्था बड़ी भयानक हो गयी। मनुष्यत्वके नाश होनेसे उसकी जो घोर दुर्दशा हुई, प्रत्येक पराधीनता-परायण जातिकी उसी घोर दुर्दशाका होना और उसकीमनुष्यताका नाश होना अवश्यम्भावी है। पराधीनताकी खास नींव अपने धर्मका नाश और दूसरेके धर्मकी सेवा करनेसे पड़ती है। यदि कोई देश

पराधीन अवस्थामें अपने धर्मकी रक्षा करे या उसे पुनर्जीवित कर सके तो पराधीनताका बन्धन अपने आप टूट जायगा,—यह अवांछनीय प्राकृतिक नियम है। अतएव कोई भी जाति यदि अपने दोषसे पराधीन हो जाय, तो अविकल और पूर्ण स्वराज प्राप्त करना उसका पहला उद्देश्य और राजनीतिक आदर्श होना उचित है।

औपनिवेशिक स्वायत्त-शासन स्वराज नहीं। हां यदि बिना शर्त्तके पूर्ण अधिकार मिल जाय, एवं जातिका आदर्श और अपना धर्म भ्रष्ट न हो, तो स्वराज्यका अनुकूल और पूर्ववर्त्ती समय अवश्य हो सकता है। यहां एक बात और उत्पन्न होती है कि, बृटिश साम्राज्यके बाहर स्वाधीनताकी आशा करना धृष्टताका परिचायक और राजद्रोह-सूचक है। जो लोग औपनिवेशिक स्वायत्त-शासनसे सन्तुष्ट नहीं हैं, वे निश्चय राजद्रोही, राष्ट्रमें विप्लव करनेवाले और सब तरहसे राजनीतिक कामोंमें भाग लेनेसे रोके जाने योग्य हैं। किंतु इस तरहके आदर्शसे राजद्रोहका कोई सम्बन्ध नहीं है। अंग्रेजी शासनके आरम्भ कालसेही बड़े बड़े अंग्रेज राजनीतिज्ञ कहते आ रहे हैं कि इस तरहकी स्वाधीनताके लिये अंग्रेज राजपुरुषोंका भी लक्ष्य है; आज भी विचारवान अंग्रेज मुक्तकंठसे कह रहे हैं कि स्वाधीनताके आदर्शका प्रचार और स्वाधीनताकी प्राप्तिकी वैध चेष्टा कानून-संगत और दोष-शून्य है! पर हमारी स्वाधीनता बृटिश साम्राज्यके भीतर होगी या बाहर, इस प्रश्नकी मीमांसा

करनेके लिये जातीय पक्ष कभी आवश्यक नहीं कहता। हमें पूर्ण स्वराज्य चाहिये। यदि वृटिश जाति ऐसे मिश्रित साम्राज्यकी व्यवस्था करे कि उसकी छत्रछायामें रहते हुए भारतवासियोंका वैसा स्वराज्य सम्भव हो, तो आपत्ति ही क्या है? क्योंकि हम अंग्रेज़ जातिके द्वेषसे तो स्वराज्यकी चेष्टा कर नहीं रहे हैं, देशकी रक्षाके लिये कर रहे हैं; पर हम पूर्ण स्वराज्यके सिवा दूसरे आदर्शद्वारा देशवासियोंको मिथ्या राजनीति और देश-रक्षाके रद्दी मार्गको दिखानेके लिये प्रस्तुत कदापि नहीं; इसीलिये कांग्रेस क्रीडमें जातीय पक्षकी आपत्ति की गयी थी।

देश और जातीयता

देश, जातीयताकी स्थापना है, न तो वह जाति ही है और न धर्म ही; केवल देश है। सब जातीयताका उपकरण गौण और उपकारी है। देश ही मुख्य और आवश्यक है। ऐसी बहुतसी परस्पर विरोधी जातियां एक देशमें विकाश करती आ रही हैं जिनमें सद्भाव, एकता और मैत्री नहीं है। किन्तु इससे क्या? जबकि एक देश और एक माता है, तो किसी न किसी दिन एकता निश्चय ही होगी। बहुतसी जातियोंके मिलनेसे एक बलवान जाति निश्चय ही होगी। यद्यपि धर्ममत एक नहीं है, सम्प्रदाय सम्प्रदायमें बहुत बड़ा विरोध है, मेल नहीं है, मिलनेकी आशा भी नहीं है, तथापि कुछ चिन्ता नहीं, एक दिन स्वदेश मूर्त्ति-धारिणी माताके प्रबल खिंचावमें छल, बल, साम, दंड, दामसे मेल होना ही पड़ेगा, और साम्प्रदायिक विभिन्नताको, भ्रातृ-प्रेम और मातृ-प्रेममें निश्चय ही डूबना पड़ेगा। यद्यपि एक देशमें अनन्त भाषाएँ होनेके कारण भाई भाईकी बात समझनेमें असमर्थ है, दूसरेके

भावमें प्रवेश नहीं है, एक हृदयको दूसरे हृदयसे आवद्ध होनेके मार्गमें सुदृढ़ और अभेद्य पड़ी हुई प्राचीरको विशेष कठिनाईसे डाँकना है, तथापि कुछ डर नहीं। एक देश, एक जीवन और एक चिन्ताका स्रोत सबके मनमें, आवश्यकताकी प्रेरणासे साधारण भाषा निश्चय उत्पन्न करेगा। या तो वर्त्तमान एक भाषाका आधिपत्य ही स्वीकृत होगा, नहीं तो एक ऐसी नयी भाषाकी ही उत्पत्ति होगी, जिसका माताके मन्दिरमें सबलोग व्यवहार करेंगे। ये सारी बाधायें अधिक दिनोंतक नहीं टिक सकतीं; माताकी आवश्यकता, माताकी टान (खींच) माताकी हार्दिक वासना विफल नहीं हो सकती। वह वासना सब बाधाओं और विरोधोंको दूर करके जयी होती है। जब एक माताके पेटसे हम सभोंका जन्म हुआ है, एक माताकी गोदमें निवास है तथा एकही माताके पंचभूतोंमें मिल जाते हैं, अर्थात् जब शरीर त्यागनेपर सबको पांच भौतिक शरीरका—जो पृथ्वीका भाग है वह पृथ्वीमें, जो जलका भाग है वह जलमें, जो अग्निका भाग है वह अग्निमें, जो वायुका भाग है वह वायुमें और जो आकाशका भाग है वह आकाशमें मिल जाता है,—तब भीतरी हज़ारों विवाद होते हुए भी सबको माताकी पुकार सुननी ही होगी। प्राकृतिक नियम यही है और सब देशोंके इतिहासोंकी शिक्षा भी यही है कि देश, जातीयताकी स्थापना है। देश और जातिका यह सम्बन्ध व्यर्थ नहीं है, स्वदेश होनेसे जाति अवश्यम्भावी है। एक देशमें दो जातियां अधिक दिनोंतक बिना मिले नहीं रह

सकतीं; दूसरे, एक देश न होनेसे, जाति, धर्म और भाषा चाहे एकही हो, तोभी उससे कोई भी फल नहीं। एक दिन स्वतंत्र जातिकी उत्पत्ति होगी ही। दो स्वतंत्र देशोंको मिलाकर एक बड़ा साम्राज्य बनाया जा सकता है, किन्तु एक बड़ी जाति नहीं बनायी जा सकती। साम्राज्यका नाश हो जानेसे स्वतंत्र जाति हो जाती है; कईबार वह भीतरी स्वाभाविक स्वतंत्रता ही साम्राज्यके नाशका कारण भी हो चुकी है।

किन्तु यह फल अवश्यम्भावी होते हुए भी मनुष्यकी चेष्टामें, मनुष्यकी बुद्धिमें, या बुद्धिके अभावमें वह अवश्यम्भावी प्राकृतिक क्रिया शीघ्रतासे या विलम्बसे फलवती ज़रूर होती है। हमारे देशमें कहीं भी एकता नहीं है, किन्तु बहुत दिनोंसे एकताकी ओर लोगोंका झुकाव है, एकताका संचार भी हो रहा है। हमारा इतिहास भारतकी बिखरी हुई शक्तिको एक करनेके लिये पूर्ण प्रयास कर रहा है। इस प्राकृतिक चेष्टाके कई प्रधान बाधक थे; पहला बाधक प्रादेशिक विभिन्नता, दूसरा हिन्दू और मुसलमानका पारस्परिक विरोध और तीसरा बाधक था मातृ-दर्शनका अभाव। देशका बड़ा आकार, आने जानेका श्रम और विलम्ब तथा भाषाकी विभिन्नता ही, प्रादेशिक अनैक्यका खास कारण है। पर अब शेषोक्त विघ्न तरह तरहकी आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाओंद्वारा दूर हो गये हैं। हिन्दू और मुसलमानोंमें विरोध होते हुए भी भारतको एक करनेमें अकबर समर्थ हुआथा। यदि औरंगज़ेब निकृष्ट राजनीतिक बुद्धिके वशमें

न हुआ होता तो जिस तरह कालके माहात्म्यसे, अभ्यासके वश तथा विदेशियोंके आक्रमणके भयसे इंगलैंडमें कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट जातियाँ एक हो गयी थीं, उसी तरह भारतमें हिन्दू और मुसलमान बहुत दिनोंके लिये एक हो गये होते। उनकी बुद्धिके दोषसे इस समय कूट-बुद्धि बहुतसे अंग्रेज़ राजनीतिज्ञोंकी प्ररोचनामें वह विरोध प्रज्वलित होकर और बढ़ना नहीं चाहता। किन्तु प्रधान विघ्न माताके दर्शनका अभाव है। हमारे राजनीतिक नेता प्राय: ही माताका सम्पूर्ण स्वरूप देखनेमें असमर्थ थे। महाराज रणजीतसिंह या गुरु गोविंदने भारतमाताको न देखकर पञ्चनद (पंजाब) माताको देखा था। अन्यान्य महाराष्ट्रीय राजनीतिज्ञोंने महाराष्ट्र-माताको देखे थे। बंगालीलोगोंने भी बंगभंगके समय बंग-माताका दर्शन प्राप्त किया है—वह दर्शन अखंड दर्शन है। अतएव बंगालकी भावी एकता और उन्नति अवश्यम्भावी है। किन्तु भारतमाताकी अखंड मूर्त्ति अभीतक प्रकट नहीं हुई। हम कांग्रेसमें जिस भारतमाताकी पूजा नाना प्रकारके स्तवस्तोत्रोंसे करते आ रहे थे, वह कल्पित अंग्रेज़ोंकी सहचरी और प्रियदासी म्लेच्छ, वेशभूषासे सज्जित दानवी माया है, वह हमारी माता नहीं। यदि होती तो उसके बाद ही प्रकृति-माता बिलकुल अस्पष्ट देखनेसे लुब्धायित हो हमारा प्राण आकर्षित करती। जिस दिन हमलोग अखंड स्वरूपा माताकी मूर्त्तिका दर्शन कर लेंगे, उनके रूप लावण्यमें मुग्ध होकर उनके कार्यमें जीवन उत्सर्ग करनेके लिये उन्मत्त हो जायँगे'

उस दिन सारी बाधाएँ अपने आप ही दूर हो जायँगी और भारतकी एकता, स्वाधीनता तथा उन्नति सहज हो जायगी। भाषाके भेदसे भीऔर बाधा नहीं पड़ेगी, हम सबलोगोंको अपनी अपनी मातृभाषा रक्षित रखते हुए भी साधारण भाषा रूपमें हिन्दी भाषाको ग्रहण करके उन विघ्नोंको नष्ट करना होगा। तभी हम हिन्दू और मुसलमानके भेदकी भी वास्तविक मीमांसा पैदा कर सकेंगे। बिना माताके दर्शन हुए, बिना उन बाधाओंके नाशकी बलवती इच्छा उत्पन्न हुए, उपाय उत्पन्न नहीं हो रहा है। केवल विरोध ही तीव्र होता जा रहा है। किन्तु अखंड स्वरूप चाहिये। यदि हिन्दुओंकी माता हिन्दू जातीयताकी स्थापना कहकर मातृ दर्शनकी आकांक्षा पोषण करें, तो हम उसी पुराने भ्रममें पड़कर जातीयताके पूर्ण विकाशसे वंचित ही रहेंगे।
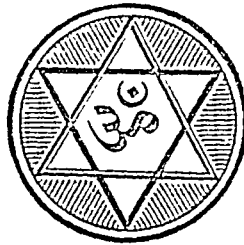
हमारी आशा

हमारी भुजाओंमें बल नहीं, हमारे पास युद्धकी सामग्री नहीं, शिक्षा नहीं, राजशक्ति नहीं; फिर हम किसकी आशा करें? कहां वह बल है जिसके भरोसे हमलोग प्रबल शिक्षित यूरोपीय जातिका असाध्य काम साधनेके प्रयासी होंगे ? पंडित और विज्ञ पुरुषलोग कहते हैं कि, यह बालकोंकी महान् दुराशा और ऊंचे आदर्शके मदमें उन्मत्त विचार-हीन लोगोंका शून्य स्वप्न है। स्वाधीनता प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग युद्ध ही है, पर उसमें हमलोग असमर्थ हैं। माना कि युद्ध करनेमें हमलोग असमर्थ हैं, और हम भी युद्ध करनेकी राय नहीं देते। किंतु क्या यह सत्य बात है कि केवल बाहुबल ही शक्तिका आधार है, अथवा शक्ति और भी किसी गूढ़ गम्भीर वस्तुमें है ?

यह बात सबलोग स्वीकार करनेके लिये बाध्य हैं कि केवल बाहुबलसे कोई भी बड़ा कार्य संसाधित होना असम्भव है। यदि दो परस्पर विरोधी समान बलशाली शक्तियोंका सामना हो, तो जिसका नैतिक और मानसिक बल अधिक होगा,

जिसका ऐक्य, साहस, अध्यवसाय, उत्साह, दृढ़-प्रतिज्ञा और स्वार्थ-त्याग उत्कृष्ट होगा, तथा जिसकी विद्या, बुद्धि, चतुरता, तीक्ष्ण-दृष्टि, दूरदर्शिता और उपाय-उद्भावनी शक्ति विकशित होगी, निश्चय उसीकी जय होगी। इस तरह बाहुबल, संख्या और युद्ध-सामग्री इन तीनोंसे हीन समाज भी नैतिक और मानसिक बलके उत्कर्षसे प्रबलसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वीको हटा सकता है। यह बात मन-गढ़ंत है, सो बात नहीं, इसका प्रमाण इतिहासके पन्ने पन्नेमें लिखा है। अब इसपर आप यह कह सकते हैं कि, बाहुबलकी अपेक्षा नैतिक और मानसिक बलका गुरुत्व तो है, पर बाहुबलके बिना नैतिकबल और मानसिकबलकी रक्षा कौन करेगा? यह तर्क बिलकुल ठीक है। किन्तु यह भी देखा गया है कि दो चिंताप्रणाली, दो सम्प्रदाय और परस्पर-विरोधी सभ्यताका संघर्ष हुआ है और उसमें उस दलकी तो हार हुई है जिसमें बाहुबल, राजशक्ति, युद्ध-सामग्री आदि सब साधन पूर्ण मात्रामें मौजूद थे तथा उस दलकी जीत हुई है जिसमें ये सब साधन आरम्भमें नहीं थे। यह उलटा फल क्यों हुआ? "यतोधर्मस्ततोजयः" अर्थात् जहां धर्म है वहाँ जय है। किन्तु धर्मको पहचाननेकी शक्ति होनी चाहिये। अधर्म्मका अभ्युत्थान और धर्मका पतन स्थायी नहीं हो सकता।

बिना कारणके कार्य नहीं होता। जयका कारण शक्ति है। किस शक्तिसे निर्बल पक्षवालोंकी जीत और प्रबल पक्षवालोंकी हार होती है, यह बात विचारणीय है। ऐतिहासिक

दृष्टान्तोंकी परीक्षा करनेपर हम यह बात जान सकेंगे कि, आध्यात्मिक शक्तिके बलसे यह अनहोनी बात हो सकती है। आध्यात्मिक शक्ति ही बाहुबलको कुचलकर मानवजातिको बतलाती है कि, यह जगत् भगवानका राज्य है नकि अन्ध-स्थूल प्रकृतिका लीलाक्षेत्र। पवित्र आत्मा, शक्तिका प्रसव करती है, अर्थात् पवित्र आत्मासे शक्ति पैदा होती है। जो आद्या प्रकृति आकाशमें दस हज़ार सूर्यको घुमा रही है, जो अँगुली-के छूनेसे पृथिवीको हिलाकर मनुष्योंके उत्पन्न किये हुए पूर्व-गौरवोंके सारे चिह्नोंको ध्वंस कर डालती है, वह आद्या प्रकृति शुद्ध आत्माके आधीन है। वह प्रकृति असम्भवको सम्भव करती, मूक यानी गूंगेको वाचाल करती और पंगुओं-(लँगड़ों) को पहाड़ लाँघनेकी शक्ति देती है। सारा जगत् उसी शक्ति-का उत्पन्न किया हुआ है। जिसका आध्यात्मिक बल बढ़ जाता है उसमें जीतनेकी सामग्री स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है, विघ्न बाधाएं भी अपने आपही हट जातीं, और उपयुक्त समय आ विराजता है; कार्य करनेकी क्षमता भी स्वयं ही उत्पन्न होकर तेजस्विनी हो जाती है। यूरोप आजकल इसी Soul-force (आध्यात्मिक शक्ति)को पैदा करनेमें लगा हुआ है। फिर भी अभी इसमें उसे पूर्ण विश्वास नहीं है, और नतो उसके भरोसेपर काम करनेकी उसकी प्रवृत्ति ही है। किन्तु भारतकी शिक्षा, सभ्यता गौरव, बल और महत्वके मूलमें आध्यात्मिक शक्ति है। जब जब लोगोंको भारतीय महाजातिका विनाशकाल निकट आया

ज्ञान पड़ा है, तब तब आध्यात्मिक बलने गुप्त रीतिसे उत्पन्न होकर उग्र स्रोतसे प्रवाहित हो मुमुर्षु (मृत्युके निकट पहुँचे हुए) भारतको पुनरुज्जीवित किया है और सारी उपयोगी शक्तियों-को भी पैदा किया है। इस समय भी उस आध्यात्मिक बलका प्रस्रवन बन्द नहीं हो गया है, आजभी उस अद्भुत मृत्युञ्जय शक्तिकी क्रीड़ा हो रही है।

किन्तु स्थूल-जगत्की सारी शक्तियोंका विकाश समयके अनुसार होता है, अवस्थाके उपयुक्त ही समुद्रमें ज्वार और भाटेका न्यूनाधिक्य होता है। हमलोगोंमें यही हो रहा है। इस समय सम्पूर्ण भाटा है, ज्वारका समय आ रहा है। महापुरुषोंकी तपस्या, स्वार्थ-त्यागियोंका कष्ट-सहन, साहसी पुरुषोंका आत्म-समर्पण, योगियोंकी यौगिक-शक्ति, ज्ञानियोंका ज्ञान-संचार और साधुओंकी शुद्धता आदि आध्यात्मिक बलसे उत्पन्न होती हैं। एकबार इन पुरुषोंने भारतीय मृत-प्राय जातिको संजीवनी बूटीकी तरह जीवित, बलिष्ठ और तेजस्वी कर दिया था। फिर वही तपोबल स्वयं ही निरुद्ध होकर अदृश्य और अजेय हो निकल जानेको तैयार हुआ। इधर कई वर्षोंके कष्ट, दुर्बलता और पराजयके फलसे भारतवासी अपनेमें शक्तिको उत्पन्न करनेकी खोज करना सीख रहे हैं। किन्तु वह भाषणकी उत्तेजना, म्लेच्छोंकी दी हुई विद्या, सभासमितिकी भाव-संचारिणी शक्ति और समाचार पत्रोंकी क्षणस्थायी प्रेरणासे नहीं वरन् अपनी आत्माकी विशाल नीरवतामें ईश्वर और जीवके

संयोगसे गम्भीर, अविचलित, अभ्रान्त, शुद्ध, दुःख-सुख जयी और पाप-पुण्य-वर्जित शक्तिसे उत्पन्न है। वही महा-सृष्टि-कारिणी, महा-प्रलयंकरी, महा-स्थिति-शालिनी, ज्ञानदा-यिनी, महा सरस्वती, ऐश्वर्य-दायिनी महालक्ष्मी, शक्ति-दायिनी महाकाली है, वही सहस्रों तेजोंके संयोजनसे एकीभूता चण्डी प्रकट होकर भारतका कल्याण तथा जगत्का कल्याण करनेमें सफल होगी। भारतकी स्वाधीनता तो केवल गौण (अप्रधान) उद्देश्य मात्र है। मुख्य उद्देश्य है—भारतकी सभ्यताका शक्ति-दर्शन एवं संसार भरमें उस सभ्यताके प्रचार और अधि-कारका होना।

यदि हम पाश्चात्य सभ्यताके बलसे, सभासमितियोंके बलसे, वक्तृताके ज़ोरसे अथवा बाहुबलसे स्वाधीनता या स्वायत्त शासन प्राप्त कर लें, तो वह मुख्य उद्देश्य कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय सभ्यतामें आध्यात्मिक शक्ति है। उस आध्यात्मिक शक्तिसे आध्यात्मिक शक्तिके उत्पन्न किये हुए सूक्ष्म और स्थूल प्रयत्नोंद्वारा स्वाधीनता प्राप्त करनी होगी। इसी-लिये ईश्वरने हमलोगोंके पाश्चात्य-भाव-युक्त आन्दोलनको ध्वंस करके हमारी बहिर्मुखी शक्तिको अन्तर्मुखी कर दिया है। ब्रह्म-बान्धव उपाध्यायने दिव्य चक्षुसे जो कुछ देखा था, उसे बार बार उन्होंने कहा कि, शक्तिको अन्तर्मुखी करो; किन्तु समयके फेरसे उस समय कोई वैसा कर न सका—यहांतक कि स्वयं वे भी वैसा न कर सके। पर आज समय अनुकूल होते ही

ईश्वरने उसे ठीक कर दिया। भारतकी शक्ति अन्तर्मुखी हो गयी है। जिस समय वह शक्ति फिर बहिर्मुखी होगी, उस समय फिर वही स्रोत नहीं फिरेगा और न कोई उसे रोक ही सकेगा। फिर वही त्रिलोक-पावनी गंगा भारतको प्लावित यानी जल-मग्न करके पृथ्वीको प्लावित करके अपने अमृत-स्पर्शसे जगत्में नया युग स्थापित करेगी।

प्राच्य और पाश्चात्य

हमारे देशमें और यूरोपमें मुख्य अन्तर यही है कि, हमारा जीवन अन्तर्मुखी है और यूरोपका जीवन वहिर्मुखी। हमलोग भावका आश्रय लेकर पाप-पुण्य इत्यादिका विचार करते हैं, और यूरोपनिवासी कर्मका आश्रय लेकर पापपुण्य इत्यादिका विचार करते हैं। हमलोग ईश्वरको अन्तर्यामीऔर आत्मस्थ जानकर भीतर उनकीखोज करते हैं, यूरोप ईश्वरको जगत्‌का राजा समझकर बाहर उनको देखता और उपासना करता है। यूरोपका स्वर्ग स्थूल-जगत्‌में है। पृथ्वीका ऐश्वर्य, सौन्दर्य, भोग, विलास ही आदरणीय और अन्वेषणीय है; यदि दूसरे स्वर्गकी कल्पना करें, तो यह पार्थिव ऐश्वर्य, सौन्दर्य और भोग-विलासका स्वरूप ही उसका ईश्वर है जोकि हमलोगोंके इन्द्रके समान है। पार्थिक राजाकी तरह रत्नमय सिंहासनपर बैठकर हज़ारों वन्दनाकारियोंद्वारा स्तवस्तुतिसे वर्द्धित होकर विश्व साम्राज्य चला रहा है। हम-लोगोंके शिव परमेश्वर एवं भिक्षुक, पागल और भोलानाथ हैं; हमलोगोंके कृष्ण बालक, हास्यप्रिय, रँगीले, प्रेममय हैं और उनका क्रीड़ा करना धर्म है। यूरोपनिवासियोंके भगवान

कभी हँसते नहीं, और न कभी क्रीड़ा ही करते हैं। क्योंकि इससे उनका गौरव नष्ट होता है, उनका ईश्वरत्व नहीं रह जाता। इसका कारण यही बहिर्मुखी भाव है। ऐश्वर्यका चिह्न ही उनके ऐश्वर्यकी स्थापना है, इन चिह्नोंके बिना देखे वे विश्वास नहीं करते। उनकी न तो दिव्य दृष्टि है और न सूक्ष्म दृष्टि ही; उनका सब कुछ स्थूल है। हमलोगोंके शिव हैं तो भिक्षुक, पर तीनों लोकका सारा धन और ऐश्वर्य भक्तोंको दान करते हैं; हैं भोलानाथ, किन्तु ज्ञानियोंका अप्राप्य ज्ञान उनकी स्वभावसिद्ध सम्पत्ति है। हमलोगोंके प्रेममय रँगीले श्याम कुरुक्षेत्रके नायक, जगत्के रक्षक तथा अखिल ब्रह्माण्डके स्रष्टा और सुहृद हैं। भारतका विराट् ज्ञान, तीक्ष्ण सूक्ष्म-दृष्टि, अबाध दिव्य-दृष्टि, स्थूल आवरणको बेधकर आत्मस्थ भाव, वास्तविक सत्य और अन्तर्निहित गूढ़ तत्त्वको बाहर लाती है।

* * * * *

पापपुण्यके सम्बन्धमें भी यही क्रम दिखाई पड़ता है। हमलोग भीतरी भाव देखते हैं। निन्दित कर्मोंमें पवित्र भाव और बाह्यिक पुण्योंमें पापियोंका स्वार्थ छिपा रह सकता है; पाप पुण्य और सुख दुःख मनका धर्म है, कर्म तो आवरण मात्र है। हमलोग यह जानते हैं। सामाजिक बंधनोंके लिये हमलोग बाह्यिक पाप-पुण्यको कर्मका प्रमाण समझकर मानते हैं, किन्तु हमलोगोंका आदरणीय आन्तरिक भाव ही है। जो सन्यासी आचार-विचार, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और पाप-पुण्यसे

न्यारे रहते हैं तथा मदोन्मत्त पिशाचवत् आचरण करते हैं, उन्हीं सर्वधर्म-त्यागी पुरुषोंको हमलोग श्रेष्ठ कहते हैं। पर पाश्चात्य बुद्धिवाले इन तत्त्वोंके ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। वे जो जड़वत् आचरण करता है, उसको जड़, उन्मत्तवत् आचरण करता है उसको पागल, और जो पिशाचवत् आचरण करता है उसको घृणा करनेके योग्य अनाचारी पिशाच समझते हैं। क्यों? इसलिये कि उनकी दृष्टि सूक्ष्मदृष्टि नहीं है, वे आन्तरिक भावोंके देखनेमें असमर्थ हैं।

* * * * *

इसी तरह बाह्यदृष्टिके वशीभूत होकर यूरोपीय पंडित कहते हैं कि, भारतमें प्रजातंत्र किसी भी युगमें नहीं था। प्रजातंत्र सूचक कोई भी बात संस्कृत भाषामें नहीं पायी जाती। आधुनिक पार्लमेंटकी तरह कोई कानून व्यवस्थापक सभा भी नहीं थी, प्रजातंत्रके बाहरी चिह्नोंके अभावमें प्रजातंत्रका अभाव ही अवगत होता है। हमलोग भी इस पाश्चात्य युक्तिको ठीक कहकर ग्रहण करते आ रहे हैं।

हमलोगोंके प्राचीन आर्य राज्योंमें प्रजातंत्रका अभाव नहीं था। प्रजातंत्रकी बाहरी सामग्री असम्पूर्ण थी अवश्य किन्तु प्रजातंत्रताका भाव हमलोगोंके सारे समाज और शासन-प्रणालियोंके भीतर व्याप्त था। यहाँ प्रजाके सुख और देशकी उन्नतिकी रक्षाकी जाती थी। पहले हरएक गाँवमें सम्पूर्ण प्रजातंत्र था, गाँवके लोग सम्मिलित होकर सर्वसाधारणकी रायसे वृद्ध और

योग्य पुरुषोंके अधीन गाँवकी व्यवस्था और समाजकी व्यवस्था करते थे। यह ग्राम्य प्रजातंत्र प्रणाली मुसलमानोंके शासन काल-में अक्षुण्ण थी, पर वृटिश शासन प्रणालीके स्थापित होते ही नष्ट हो गयी। दूसरे, प्रत्येक छोटेसे छोटे राज्यमें भी सर्व-साधारणको सम्मिलित करनेकी सुविधा थी। बौद्ध साहित्य, ग्रीक इतिहास, तथा महाभारतमें इसका यथेष्ट प्रमाण पाया जाता है कि ऐसी प्रथा विद्यमान थी। तीसरे, बड़े बड़े राज्योंमें, जहाँ इस तरहकी बाहरी सामग्रीका रहना असम्भव था, प्रजा-तंत्रकी भाँति राजतंत्रको परिचालित किया जाता था। प्रजाकी कानून व्यवस्थापक सभा नहीं थी, किन्तु राजाको भी कानून बनाने या प्रवर्त्तित कानूनका परिवर्त्तन करनेका तनिक भी अधिकार नहीं था। प्रजा जिस आचार-व्यवहार, रीति-नीति-को कानून मानती आती थी, उसकी रक्षा करनेवाला राजा होता था। ब्राह्मण लोग आधुनिक वकीलों और जजोंकी तरह प्रजाद्वारा अनुष्ठित उन्हीं सारे नियमोंको राजाको समझाते, जहाँ संशय होता वहाँ क्रमशः आवश्यकतानुसार नियमोंका परिवर्त्तन करते एवं उसे लिखित शास्त्रोंमें लिपिबद्ध करते थे। शासनका भार राजापर ही रहता था, किन्तु वह योग्यताके साथ अपनेको कानूनकी कठिन शृंखलामें आबद्ध समझता था। प्रजाद्वारा अनुमोदित कार्य ही राजा करता था नकि उससे भिन्न। जिस कार्यसे प्रजाके असंतुष्ट होनेकी सम्भावना रहती थी, उसे राजा कभी भी नहीं करता था।

इसी राजनीतिक नियमका सबलोग पालन करते थे। यदि राजा प्रजाद्वारा अनुमोदित नियमोंका उल्लंघन करता था, तो प्रजा उस राजाको राजा माननेके लिये वाध्य नहीं होती थी अर्थात् उसे त्याग देती थी।

*   *   *

प्राच्य और पाश्चात्यका एकीकरण इस युगका धर्म है। किन्तु इस एकीकरणमें यदि हमलोग पाश्चात्यको गौरव या मुख्य अंग मानें, तो हमलोग विषम भ्रममें पड़ेंगे। प्राच्यहीको इसका गौरव है और प्राच्य ही इसका मुख्य अंग है। क्योंकि वहिर्जगत अन्तर्जगतमें गौरवान्वित है नकि अन्तर्जगत वहिर्जगतमें। भाव और श्रद्धा, शक्ति और कर्मका उत्पन्न किया हुआ है। भाव और श्रद्धाकी रक्षाकी जाती है, पर शक्ति प्रयोगमें और कर्मके वाह्यिक आकार तथा उपकरणमें आसक्त होनेपर नहीं। पाश्चात्य निवासी प्रजातंत्रके वाह्यिक आकार और उपकरणको लेकर तन्मय हैं। भावको परिस्फुट करनेके लिये वाह्यिक आकार और सामग्री है। भाव आकारको गठन करते हैं और श्रद्धा उपकरणका सृजन करती है। किन्तु पाश्चात्य निवासी आकार और उपकरणमें इस प्रकार व्यग्र हैं कि उसी वाहरी प्रकाशमें उनका भाव और श्रद्धा नष्ट होती जा रही है, जिसका लक्ष्य भी वे नहीं कर पा रहे हैं।

आजकल प्राच्य देशमें प्रजातंत्रका भाव और श्रद्धा प्रवल वेगसे परिस्फुट होकर वाहरी सामग्री उत्पन्न कर रही है,

बाहरी आकार भी बढ़ा रही है; किन्तु पाश्चात्य देशमें वही भाव और श्रद्धा क्षीण होती जा रही है। प्राच्य प्रभातोन्मुख है और प्रकाशकी ओर भाग रहा है, तथा पाश्चात्य अन्धकार-गामी है और रात्रिकी ओर जा रहा है।

* * *

इसका कारण, उसी बाह्य आकार और सामग्रीमें आसक्तिके फलसे प्रजातंत्रका दुष्परिणाम है। प्रजातंत्रकी पूर्ण अनुकूल शासनप्रणाली स्थापित करके अमेरिका इतने दिनोंतक यह अभिमान करता था कि, अमेरिकाके समान स्वाधीन देश संसारमें दूसरा कोई नहीं है, किन्तु वास्तवमें प्रेसिडेण्ट और कर्मचारी मंडल कांग्रेसकी सहायतासे स्वेच्छानुसार शासन करते हैं; धनीपात्रोंके अन्याय, अविचार और सर्वग्रासी लोभको आश्रय देते तथा अपनी योग्यताका दुर्व्यवहार करके स्वयं भी धनी बनते हैं। एक मात्र प्रतिनिधि निर्वाचनके लिये प्रजा स्वाधीन है—सो उस समय भी धनवान अधिक धन व्यय करके अपनी योग्यता अक्षुण्ण रखते हुए भी प्रजाद्वारा चुने हुए प्रतिनिधिको खरीद करके अपनी इच्छाके अनुसार धन शोषण करते और आधिपत्य जमाये रहते हैं। फ्रांस स्वाधीनता और प्रजातंत्रकी जन्म-भूमि है, किन्तु वहांका कर्मचारीवर्ग और पुलिस-विभाग प्रजाकी इच्छासे प्रत्येक शासन-कार्यके चलानेके लिये मंत्र स्वरूप समझकर नियुक्त किया गया था। उसका अधिकांश

भाग इस समय स्वेच्छाचारी होकर चैनकी बांसुरी बजा रहा है, और प्रजा उसके भयसे कातर हो रही है।

इंगलैंडमें ऐसी विडम्बना नहीं है अवश्य, किन्तु प्रजातंत्र-के अन्यान्य दुःख वहां भी व्यक्त हो रहे हैं। चंचलमति अर्द्ध-शिक्षित प्रजाके मत-परिवर्त्तनसे शासनकार्य और राजनीति डांवाडोल होती देखकर वृटिश जाति पुरानी राजनीतिक कुशलता छोड़कर वाहर और भीतर दोनोंमें विपदग्रस्त हो रही है। शासन करनेवाले कर्त्तव्यज्ञानसे रहित हैं। वे अपने स्वार्थ और मिथ्या गौरवकी रक्षा करनेके लिये निर्वाचकोंको प्रलोभन और भय दिखाकर तथा भूल समभाकर वृटिश जाति-की बुद्धि विकृत कर रहे हैं। विकृत ही नहीं वरन् उसकी बुद्धिकी अस्थिरता और चांचल्य भी बढ़ा रहे हैं। इन्हीं सब कारणोंसे एक ओर तो प्रजातंत्रवादको भ्रान्त कहकर एक दल स्वाधी-नताके विरुद्ध हाथमें तलवार लेकर खड़ा हो रहा है, और दूसरी ओर अनार्किष्ट, सोशलिष्ट आदि विप्लवकारियोंकी संख्या बढ़ रही है। इन दोनों दलोंका संघर्ष इंगलैंडके राज-नीतिक क्षेत्रमें चल रहा है। अमेरिकामें श्रमजीवियों और पूंजीपतियोंके विरोधसे, जर्मनीमें मत संगठनसे फ्रांसमें सैन्य और नौसैन्यसे तथा रूसमें पुलिस और हत्याकारियोंके संग्रामसे सब जगह गोलमाल, चंचलता और अशांति विराज रही है।

वहिर्मुखी दृष्टिका यह परिणाम अवश्यम्भावी है। कुछ

दिनोंतक राजसिक तेजसे तेजस्वी होकर राक्षस महान, श्रीसम्पन्न और अजेय हो जाते हैं, किन्तु शीघ्र ही उनका अन्तर्निहित दोष प्रकट हो जाता है और सब छिन्नभिन्न होकर चूरमार हो जाता है। भाव और श्रद्धा, सज्ञान कर्म तथा अनासक्त कर्म जिस देशमें शिक्षाका मूलमंत्र होता है उसी देशमें भीतर और बाहर प्राच्य और पाश्चात्यके एकीकरणमें समाज, अर्थनीति, और राजनीतिकी सारी समस्याओंकी संतोषजनक मीमांसा वस्तुतः हो सकती है। किन्तु पाश्चात्य ज्ञान और शिक्षाका वशवर्त्ती होकर वह मीमांसा नहीं की जा सकती। प्राच्यके ऊपर दंडायमान होकर पाश्चात्यको अपने अधीन करना होगा। भीतरकी स्थापना ही बाहरी प्रकाश है। भावोंकी पाश्चात्य सामग्रियोंका अवलम्बन करनेसे विपद्ग्रस्त होना पड़ेगा। अपने स्वभावानुसार तथा प्राच्य बुद्धिके उपयुक्त सामग्रीका उत्पन्न करना श्रेयस्कर होगा।
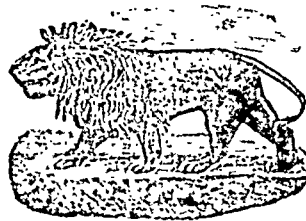
भ्रातृत्व

आधुनिक सभ्यताके जो तीन आदर्श या चरम उद्देश्य फरासी राष्ट्रविप्लवके समयमें प्रचारित हुए थे, वे हमारी भाषामें साधारणतः स्वाधीनता, साम्य और मैत्रीके नामसे परिचित हैं। किंतु पश्चात्य भाषमें जिसे Fraternity (भ्रातृत्व) कहते हैं, वह मैत्री नहीं। मैत्री तो मनका भाव है। जो सबलोगोंके हितकी इच्छा रखता है, किसीका भी अनिष्ट नहीं करता, उसी दयावान, अहिंसा-परायण, सब प्राणियोंके हितके लिये लीन रहनेवाले मनुष्यको "मित्र" कहते हैं; मैत्री उसके मनका भाव है। इस तरह स्पष्ट है कि, भाव व्यक्तिकी मानसिक सम्पत्ति है,—वह व्यक्तिके जीवन और कर्मको नियंत्रित कर सकता है, इस भावका राज-नीतिक या समाजिक शृंखलाके मुख्य बंधनमें रहना असम्भव है। फरासी राष्ट्रविप्लवके तीनों तत्त्व व्यक्तिगत जीवनके नैतिक नियम नहीं हैं वरन् वे समाज और देशकी व्यवस्थाके नवीन संगठनोपयोगी तीनों सूत्र, समाज और देशकी बाहरी अवस्थि-तिसे प्रकाशोन्मुख प्राकृतिक मूलतत्व Fraternity या भ्रातृत्व हैं।

फरासी विप्लवकारी राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता तथा समताकी प्राप्तिके लिये उत्सुक थे, किन्तु भ्रातृत्त्वपर उनका दृढ़ लक्ष्य नहीं था। भ्रातृत्त्वका अभाव ही फरासी राष्ट्रविप्लवकी असम्पूर्णताका कारण है। यदि उन विप्लवकारियोंमें भ्रातृत्त्व-का भाव भी होता तो निश्चय ही उनका विप्लव सम्पूर्ण होता। इस अपूर्व उत्थानसे ही यूरोपमें राजनीतिक और सामाजिक स्वा-धीनता स्थापित हुई है, तथा राजनोतिक साम्य भी कई अंशोंमें कितने ही देशोंमें शासन-प्रणाली और कानून-पद्धतिपर अधिकार पा चुका है। किन्तु भ्रातृत्त्वका भाव उत्पन्न हुए विना सामाजिक एकताका होना असम्भव है; भ्रातृत्त्वके अभावसे ही यूरोप सामाजिक समतासे वंचित है। इन तीनों मूल तत्त्वोंका पूर्ण विकाश परस्परके विकाशके ऊपर निर्भर करता है। समतासे ही स्वाधीनता प्राप्त होती है। साम्य भावके न रहनेसे स्वाधीनता कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। यह साम्य भाव भ्रातृत्त्वसे उत्पन्न होता है। विना भ्रातृत्त्वका भाव उदय हुए साम्य-भाव उत्पन्न नहीं होता। भ्रातृभाव यानी सबको भाईके समान समझना ही भ्रातृत्त्व है। यूरोपमें भ्रातृभाव नहीं है; वहाँका साम्य और स्वाधीनता दोनों ही दूषित निर्मूल और अधूरी है। इसीसे यूरोपमें गोलमाल और क्रान्ति हमेशा ही हुआ करती है। इस गोलमाल और क्रान्तिको यूरोपवाले साभिमान उन्नति (Progress) कहते हैं।

यूरोपमें जो कुछ भी भ्रातृभाव है, वह देशके कारण है;

क्योंकि यहाँ एक देशके लोग हैं; यहाँके सबलोगोंका हिताहित एक है और एकतामें विना विघ्न बाधाके स्वाधीनता रहती है, बस यही ज्ञान यूरोपकी एकताका कारण है। इसके विरुद्ध और एक ज्ञान उत्पन्न हुआ है, और वह यह कि, हम सबलोग मनुष्य हैं: मनुष्य मात्रका एक हो जाना ही उचित है, मनुष्यों-में भेद समझना मूर्खता और नाश करनेवाला है, इस भेदका कारण जातीयता है। यह जातीयता अज्ञानताके कारण पैदा हुई है और महान् अनिष्ट करनेवाली है। इसलिये जाती-यताको हटाकर मनुष्य जातिकी एकता स्थापित करनी चाहिये, विशेषतः जिस फ्रांसमें स्वाधीनता, साम्य और भ्रातृत्व रूप महान् आदर्श पहले पहल प्रचारित हुआ है, उसी भावप्रवण देशमें इन दोनों परस्पर विरोधी ज्ञानोंका संघर्ष चल रहा है, किन्तु स्वभावतः ये दोनों ज्ञान और भाव परस्पर वि-रोधी नहीं हैं। जातीयता भी सत्य है और मानवजातिकी एकता भी सत्य है। इन दोनों सत्योंके सामञ्जस्यमें ही मानवजातिका कल्याण है। यदि हमारी बुद्धि इन दोनोंके सामञ्जस्यमें असमर्थ हो, अविरोधी तत्वोंके विरोधमें आसक्त हो, तो उसे भ्रान्त राजसिक बुद्धि कहना होगा।

इस समय यूरोप साम्यसे शून्य राजनीतिक और सामा-जिक स्वाधीनतापर लालायित होकर सोशलिज्मकी ओर दौड़ रहा है। वहाँपर दो दल हो गये हैं, एक अनार्किस्ट और दूसरा सोशलिस्ट। अनार्किस्ट दलवालोंका कहना है कि,

यह राजनीतिक स्वाधीनता माया है। गवर्नमेण्टके नामसे बड़े लोगोंके अत्याचारोंका शासन स्थापित करके राजनीतिक स्वाधीनताकी रक्षाका भार अपने ऊपर ले व्यक्तिगत स्वाधीनताका नाश करना इस मायाका लक्षण है। इसलिये सब तरहकी गवर्नमेण्ट (जिसके द्वारा शासन किया जाय उसे गवर्नमेण्ट कहते हैं) को उठा देना चाहिये और वास्तविक स्वाधीनता स्थापित करनी चाहिये। गवर्नमेण्टके न रहनेपर स्वाधीनता और साम्यकी रक्षा कौन करेगा ? बलवानोंके अत्याचारोंका निवारण कौन करेगा, इन प्रश्नोंके उत्तरमें अनार्किष्ट दलवाले कहते हैं कि, शिक्षा-प्रचारसे ज्ञान और भ्रातृभावका प्रचार करना चाहिये, यह ज्ञान और भ्रातृ-भाव ही स्वाधीनता और साम्यकी रक्षा करेगा। यदि कोई मनुष्य भ्रातृ-भावका उल्लंघन करके अत्याचार करे, तो उसे कोई भी मनुष्य जानसे मार डाले। सोशलिष्ट दलवाले यह बात नहीं कहते। उनका कहना है कि, गवर्नमेण्ट रहे, क्योंकि गवर्नमेण्टकी आवश्यकता है; किन्तु समाज और शासनप्रणाली एकदम साम्यपर स्थापित हो जाय। इस समय जो समाज और शासन प्रणालीके दोष हैं उनका सुधार हो जानेसे मानव जाति पूर्ण सुखी, स्वाधीन और भ्रातृ-भावापन्न हो जायगी। इसीलिये सोशलिष्ट दलवाले समाजको एक करना चाहते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहकर यदि वह समाजकी सम्पत्ति हो जायगी, तो उससे एकान्नवर्त्ती परिवारकी सम्पत्ति किसी व्यक्ति विशेषकी सम्पति नहीं

वरन् परिवारकी होगी; उस अवस्थामें परिवार ही शरीर होगा और व्यक्ति उस परिवार रूपी शरीरका अंग होगा। ऐसा होनेसे समाजमें भेद नहीं रहेगा और समाज एक हो जायगा।

भ्रातृ-भाव स्थापित होनेके पहले ही गवर्नमेण्टके नाशकी चेष्टा करना, अनार्किष्ट दलवालोंकी भूल है। पूर्ण रूपसे भ्रातृ-भाव स्थापित होनेमें अभी बहुत देर है; इसके पहले ही शासन-प्रणाली उठा देनेका अवश्यम्भावी फल यह होगा कि घोर अराजकता फैल जायगी और उस घोर अराजकतासे पशुभाव-का आधिपत्य स्थापित होगा। राजा समाजका केन्द्र है। शासन-तंत्रके स्थापनसे मनुष्य पशुभावसे बचता है। जिस समय सम्पूर्ण भ्रातृ-भाव स्थापित हो जायगा, उस समय भगवान कोई भी पार्थिव नियुक्त न करके स्वयं ही पृथ्वीपर आ विरा-जेंगे और प्राणीमात्रके हृदय-सिंहासनपर आरूढ़ हो राज्य करेंगे। उस समय कृस्तानोंके लिये Reign of the Saints साधुओंका राज्य और हमलोगोंके लिये सत्ययुग स्थापित हो जायगा। अभी मानव-समाज इतनी उन्नति नहीं कर पाया है कि यह अवस्था शीघ्र उपस्थित होनेकी आशा की जाय। अभी तो उस अवस्थाकी आंशिक प्राप्ति ही सम्भव है।*

* आधुनिक समयके लिये इस निबन्धसे बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। स्वराज्य क्या वस्तु है, मानव समाजका राजनीतिक विकाश किस प्रकार होता है आदि बातें इसमें बिलकुल स्पष्ट हैं। पर बिना ध्यान पूर्वक पढ़े कुछ भी समझमें नहीं आ सकता।

भ्रातृत्वके ऊपर साम्यकी स्थापना न करके साम्यके ऊपर भ्रातृत्वकी स्थापना करनेकी चेष्टा करना, सोशलिष्टोंकी भी भूल है। साम्यहीन भ्रातृत्वका होना तो सम्भव है, किन्तु भ्रातृत्वहीन होनेसे साम्यका टिकना बिलकुल ही असम्भव है। क्योंकि वह मतभेद, झगड़ा और आधिपत्यकी प्रबल अभिलाषाओंसे निश्चय ही नष्ट हो जाया करता है, और उसका नष्ट हो जाना अनिवार्य भी है। इसलिये पहले सम्पूर्ण भ्रातृत्व और पीछे सम्पूर्ण साम्य होना चाहिये।

भ्रातृत्व बाहरकी अवस्था है। भ्रातृभावसे रहना, सबकी एक सम्पत्तिका होना, सबका एक हित और एक चेष्टाका होना ही भ्रातृत्व है। बाहरी अवस्था अन्तरंग भावोंपर अवलम्बित रहती है। भ्रातृप्रेमसे भ्रातृत्व सजीव और सत्य होता है। इसलिये उस भ्रातृप्रेमका होना आवश्यक है। हम सबलोग एक माताकी सन्तान और देशभाई हैं, एक तरहसे यही भाव भ्रातृप्रेमकी स्थापना है। किन्तु यह भाव राजनीतिक एकताका बंधन होता है, इसलिये इससे भी सामाजिक एकता नहीं होती। और भी नीचेकी तहमें पहुँचना चाहिये। जिस प्रकार हम अपनी माका अतिक्रम करके समूचे देशके भाइयोंकी माकी उपासना करते हैं, उसी तरह देशका अतिक्रम करके जगज्जननीको प्राप्त करना चाहिये। खंड शक्तिका क्रमोल्लंघन करके सम्पूर्ण शक्तिसे पहुँचना चाहिये। किन्तु जिस प्रकार भारतजननीकी उपासनामें शारीरिक सम्बन्धवाली माका अतिक्रम करते हुए भी उसे

भूला नहीं जाता, उसी प्रकार जगज्जननीकी उपासनामें भी भारतजननीका अतिक्रम करते हुए उसे भी विस्मृत नहीं होना चाहिये। क्योंकि वे भी काली, वे भी मा हैं।

धर्म ही भ्रातृभावकी स्थापना है। समस्त धर्म यही बात कहते हैं कि हमलोग एक हैं, भेद अज्ञानसे द्वेषसे और पापसे उत्पन्न है। प्रेमही समस्त धर्मोंकी प्रधान शिक्षा है। हमारा धर्म भी यही कहता है कि, हम सबलोग एक हैं, भेद बुद्धि तो अज्ञान का लक्षण है; ज्ञानी लोग सबको समान दृष्टिसे देखते, सबमें एक आत्मा, समभावसे स्थित एक नारायणका दर्शन करते हैं। इसी भक्तिपूर्ण समतासे विश्वप्रेम उत्पन्न होता है। किन्तु यह ज्ञान मानवजातिका परम गन्तव्य स्थान, हमारी आखिरी अवस्थामें सर्वव्यापी होगा; सारांश यह कि भीतर, बाहर परिवार, समाज, देश और सर्व प्राणियोंमें उसकी आंशिक प्राप्ति होनी चाहिये। यह मानवजाति परिवार, कुल, देश तथा सम्प्रदाय प्रभृतिको उत्पन्न कर शास्त्र या नियमोंके बन्धनमें पुष्ट करके इस भ्रातृत्वका स्थायी आधार बनानेके लिये बहुत दिनोंसे प्रयत्न कर रही है। पर अभीतक उसकी यह चेष्टा विफल होती आ रही है। स्थापना और आधार तो है, किन्तु भ्रातृत्वकी रक्षाके लिये कौनसी अक्षय शक्ति चाहिये जिससे वह स्थापना नष्ट न हो सके और वह आधार चिरस्थायी या नित्य नवीन हो सकता है? परमात्माने अभीतक उस शक्तिको प्रकट नहीं किया। हां राम, कृष्ण, चैतन्य, रामकृष्ण रूपमें अवतीर्ण होकर

मनुष्योंके कठोर स्वार्थ पूर्ण हृदयोंमें प्रेमका उपयुक्त पात्र होनेके लिये तैयार अवश्य कर रहे हैं। वह दिन कब आवेगा जब भगवान फिर अवतार लेकर मनुष्योंके हृदयोंमें फिर प्रेमानन्दका संचार और स्थापन करके इस पृथ्वीको स्वर्ग भूमि बनावेंगे ?

भारतीय चित्रविद्या
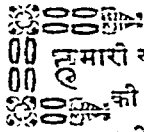
हमारी यही भारतमाता ज्ञान, धर्म, साहित्य और शिल्प-की खान थी। इसे पाश्चात्य और प्राच्य सारी जातियां स्वीकार करनेके लिये बाध्य हैं। किन्तु आजसे कुछ दिन पहले यूरोपकी यह धारणा थी कि हमलोगोंका साहित्य और शिल्प जैसा उच्च कोटिका था, भारतीय चित्रविद्या वैसी उत्कृष्ट नहीं थी, वरं वह अत्यन्त सौन्दर्यहीन थी। हमलोग भी पश्चिमी ज्ञान प्राप्तकर आँखोंपर यूरोपीय चश्मा लगा भारतीय चित्र और स्थापत्य देखनेसे नाक सिकोड़ कर अपनी पवित्र बुद्धि और निर्दोष इच्छाका परिचय दिया करते थे। हमारे देशके धनीपात्रोंकी बैठकें ग्रीक प्रतिमाओं और अंगरेजी चित्रों-के फटे पुराने निर्जीव अनुकरणसे भर गयी थीं। साधारण लोगोंके घरोंकी दीवारें भी बहुतसे तैल चित्रोंसे सुशोभित होने लगी थीं। इस प्रकार जिस भारतजातिकी रुचि और शिल्प चातुरी संसारमें अद्वितीय थी, रंग और रूपके ग्रहण करनेमें जिसकी रुचि स्वभावतः निर्भूल थी उसी जातिकी

आँखें अंधी, बुद्धि भावग्रहण करनेमें असमर्थ और रुचि अज्ञ, कुली मजदूरोंको रुचिसे भी अधम हो गयी।

राजा रविवर्मा भारतके श्रेष्ठ चित्रकारके नामसे विख्यात हुए। इस समय बहुतसे रसज्ञ-जनोंके उद्योगसे भारतवासियों-की आखें खुलीं, लोग अपनी क्षमता और अपने ऐश्वर्यको फिर समझने लगे। श्रीयुक्त अवनीन्द्रनाथ ठाकुरकी असाधारण प्रतिभाकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर कितने ही युवक लोग अब लुप्त भारतीय चित्रविद्याका पुनरुद्धार करनेमें लग गये हैं। उनकी प्रतिभाके प्रभावसे देशमें नये युगके आगमनकी सूचना मिल रही है। इसके सिवा आशा की जाती है कि अब भारत अंग्रेजोंकी आँखोंसे न देखकर अपनी आँखोंसे देखेगा और पाश्चात्योंका अनुकरण करना छोड़कर अपनी प्राञ्जल बुद्धिके सहारे फिर चित्रित रूप और रंगमें भारतका सनातन भाव व्यक्त करेगा।

भारतीय चित्र विद्यापर पाश्चात्योंकी वितृष्णा होनेके दो कारण हैं। वे लोग कहते हैं कि, भारतीय चित्रकार Nature (स्वभाव) का अनुकरण करनेमें असमर्थ हैं, ठीक मनुष्यके समान मनुष्य, घोड़ेके समान घोड़ा और पेड़के समान पेड़ चित्रित न करके उनका टेढ़ा रूप चित्रित करते हैं। उनमें Perspective *नहीं है। भारतीय चित्र चिपटे और अस्वा-

* Prespective view Ond sectionOl view.

आधिक प्रतीत होते हैं। दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि, भारतीय चित्रोंमें सुन्दर भाव और सुन्दर रूपका बिलकुल ही अभाव है। इनके सिवा और कोई भी आपत्ति यूरोपियनोंके मुखसे सुननेमें नहीं आती। हमारी पुरानी बुद्ध मूर्त्तियोंका शान्त भाव तुलना रहित है, हमारी पुरानी दुर्गा देवीकी मूर्त्तियोंमें अपार्थिव शक्तिका प्रकाश देखकर यूरोपियन प्रमुदित और स्तम्भित होते हैं। विलायतके सुविख्यात श्रेष्ठ समालोचकोंने भी स्वीकार किया है कि, भारतीय चित्रकार यूरोपका Perspective नहीं जानते। भारतके Perspective का नियम अत्यन्त सुन्दर, सम्पूर्ण और संगत है। भारतीय चित्रकार और अन्यान्य शिल्पी बाहरी जगत् या स्थूल जगत्का अनुकरण नहीं करते, यह बात बिलकुल ठीक है। किन्तु सामर्थ्यके अभावके कारण नहीं, वरन् उनका उद्देश्य ही बाह्य दृश्य और आकृतिका अतिक्रम करके भीतरी भाव सत्यको प्रकट करना रहता है। बाहरी आकार ही इस आन्तरिक सत्यका ढँकना या कपाट रूप है। उसी कपाट रूपके सौन्दर्यमें निमग्न होकर हम जो कुछ भीतर छिपाये रहते हैं, वह ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये भारतीय चित्रकारोंने इसी अभिप्रायसे बाहरी आकारमें ही भीतरी भावोंको व्यक्त करना उपयोगी माना है। भारतीय चित्रकार कितने सुन्दर ढंगसे प्रत्येक अंग एवं चारों ओरके दृश्य, आसन, वेश, और मानसिक भाव अपनी चित्रकारीमें दिखाते हैं, उसे देखकर चकित हो जाना पड़ता है। यही भारतीय

चित्रोंका प्रधान गुण और चरम उत्कर्ष है। पाश्चात्य चित्रविद्या बाहरके मिथ्या अनुभवोंको लेकर व्यस्त है, वह छायापर भक्ति करती हैं, उसे ऊपरी सौन्दर्यही पसंद है भीतरी भावोंसे कोई काम नहीं। किन्तु भारतीय चित्रविद्या भीतरकी वास्तविकताकी खोज करती है, वह नित्यपर भक्ति करती है। पाश्चात्य निवासी शरीरके उपासक हैं और हमलोग आत्माके। वे लोग नाम और रूपमें अनुरक्त हैं, और हमलोग नित्य वस्तु पाये विना किसी चीजसे भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। यह भेद जिस तरह धर्म, दर्शन, साहित्य आदिमें है, उसी तरह चित्रविद्या और स्थापत्यविद्यामें भी पाया जाता है।